226.5
चतु|प|बौ

बौद्धसिद्धों के चर्यापद

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी

प्रकाशक :
भारतीय विद्या प्रकाशन
वाराणसी-१

प्रकाशक :

भारतीय विद्या प्रकाशन

पो० बॉ० १०८, कचौड़ीगली

वाराणसी–१

२२६.५
चालुपा/ली

प्रथम संस्करण : ११००

प्रकाशन-वर्ष : १९६९ ई०

मूल्य : ६.००

मुद्रक :

विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

आनन्दकानन प्रेस

सीके० ३६/२० ढुण्ढिराज

वाराणसी–१

परम जिज्ञासु तथा स्वतंत्रचेता

राहुलजी

की

सौहार्दपूर्ण स्मृति में

प्रस्तावना

'सिद्ध' शब्द का प्रयोग साधारणतः उन विशिष्ट व्यक्तियों के लिए किया जाता आया है जिन्होंने अपनी किसी-न-किसी साधना-विशेष में पारंगत होकर न केवल 'सिद्धि' प्राप्त कर ली हो, प्रत्युत जो इसके परिणामस्वरूप उपलब्ध विलक्षण शक्ति के सहारे विभिन्न चमत्कारपूर्ण कार्य कर डालने में समर्थ भी समझे जाते हों। इस कारण जब कभी पहले हमारे सामने प्रसिद्ध ८४ सिद्धों की चर्चा की जाती रही, उनके विषय में भी बहुधा यही अनुमान कर लिया जाता रहा कि वे उक्त असाधारण महापुरुषों से अधिक भिन्न न रहे होंगे। उनका कोई ऐतिहासिक परिचय न मिल सकने के कारण तथा बहुत कुछ उनकी विचारधारा अथवा साधनाप्रणाली के विषय में कोई स्पष्ट संकेत न प्राप्त कर पाने की दशा में हम उन्हें कभी-कभी काल्पनिक तक भी मान लेते थे। उनके ८४ जैसी किसी निश्चित संख्या में गिने जाते आने के कारण तो हमारी धारणा यदा-कदा ऐसी भी बन जाती रही कि उन सभी का किसी एक ही समय एवं एक ही क्षेत्र का होना तक भी अधिक स्वाभाविक होगा। वे सर्वसाधारण से कहीं सर्वथा पृथक् रहकर अपना जीवन व्यतीत कर चुके होंगे तथा उन्होंने कभी कुछ कहा-सुना तक भी न होगा।

परंतु इधर प्रायः ६० वर्षोंवाले अनुसंधान-कार्य के फलस्वरूप जो हमें लिखित सामग्री नेपाल एवं तिब्बत से मिली है उसके

द्वारा इस नियम पर बहुत प्रकाश पड़ा है और इस समय हम ऐसी स्थिति में आ गये हैं कि उपर्युक्त ८४ सिद्धों के संबंध में एक ओर जहाँ ठोस व्यक्तिगत बातों की खोज में निरत हो सकते हैं, वहाँ दूसरी ओर उनके मतादि का भी परिचय किसी-न-किसी रूप में प्राप्त कर ले सकते हैं तथा इस प्रकार हमें कई अन्य प्रश्नों को हल करने में भी सहायता मिल सकती है। यह अवश्य है कि हमें अभी तक वैसे सभी सिद्धों की यथेष्ट रचनाएँ नहीं मिल सकी हैं और न ऐसे अन्य प्रमाण ही उतनी संख्या में मिल सके हैं जिनके आधार पर अपना कोई अंतिम निर्णय दिया जा सके, किंतु जो कुछ हाथ लगा है उसके सहारे कम-से-कम किसी स्पष्ट संकेत के मिल जाने की संभावना में अब कोई सन्देह नहीं रह जाता। अब हमें ऐसा लगने लगा है कि जिन सिद्धों की रचनाएँ हमें उपलब्ध हो सकी हैं उनका उपर्युक्त ८४ सिद्धों में से कुछ का होना असंभव नहीं है तथा यदि उनमें से शेष ने भी किन्हीं पदों की रचना की होगी तो वे भी इसी कोटि के रहे होंगे। इसके सिवाय ऐसी सामग्री के आधार पर इस समय हमें यह भी एक महत्त्वपूर्ण परिणाम निकालने का अवसर मिल जाता है कि जिस प्रारंभिक भक्ति-काव्य वा संत-काव्य का निर्माण आगे चलकर विविध प्रांतीय भाषाओं के माध्यम से हुआ उसे इसके द्वारा किसी-न-किसी प्रकार न्यूनाधिक प्रेरणा भी अवश्य मिली होगी।

अतएव, उक्त प्रकार की कई बातों को ध्यान में रखते हुए, बंगला भाषा और साहित्य के प्रेमी विद्वानों ने सिद्धों की उपलब्ध

रचनाओं का अपने ढंग से गंभीर अध्ययन भी आरंभ कर दिया है। इनमें पाये जानेवाले दोहों एवं पदों के एक से अधिक संस्करण उनके द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुके हैं तथा वे उनका आलोचनात्मक परिचय भी देते आ रहे हैं। इसी प्रकार, अभी कुछ दिनों पहले से उड़िया, असमी एवं मैथिली के विद्वानों का भी ध्यान इधर आकृष्ट हो गया है। हिन्दी भाषा और साहित्य के मर्मज्ञों ने भी इस विषय पर अपनी दृष्टि डाली है और स्व० राहुलजी सांकृत्यायन जैसे जिज्ञासु एवं अनुसंधित्सु विद्वान् ने इसके ऊपर मनन करके अपने कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने सिद्ध सरहपा के उपलब्ध 'दोहाकोश' का एक पृथक् संस्करण भी संपादित करके उसे सानुवाद प्रकाशित किया है।

जहाँ तक पता है, अभी तक अन्य किसी वैसे सुव्यवस्थित दोहाकोश का सानुवाद प्रकाशन नहीं हो पाया है और न सिद्धोंवाले उपलब्ध 'चर्यापदों' का ही कोई ऐसा संस्करण आजतक हिन्दी में निकला है जिसके द्वारा उन्हें परिचित कराया जा सके। प्रस्तुत पुस्तक इसी ओर किये गये एक प्रारंभिक प्रयास को सूचित करती है जिससे आशा है किसी भावी कार्यक्रम के लिए कुछ संकेत भी मिल सके। इसके लिए सहायक सामग्री जुटाने का श्रेय मेरे अनुज श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी को है।

आषाढ़ सुदी १५,
सं० २०२६ वि०

परशुराम चतुर्वेदी

अनुक्रम

- उपक्रम.....चर्यापद संग्रह ९– २८
- चर्यापद के रचयिता २९– ५५
- दार्शनिक और धार्मिक स्वरूप ५६– ६७
- समाज एवं संस्कृति का प्रभाव ६८– ८५
- साहित्यिक मूल्याङ्कन ८६– ९९
- चर्यापदों की भाषा १००–११२
- छन्दयोजना एवं गीतितत्त्व ११३–१२०
- उपसंहार १२१–१२४
- मूल चर्यापद १२७–१७६

★

उपक्रम

'चर्या' शब्द से अभिप्राय, साधारणतः, 'आचरणीय' वा 'आचरण' मात्र का हुआ करता है जैसा कि 'तपश्चर्या' (अर्थात् तप की दृष्टि से की जाने वाली साधनाविशेष) अथवा 'दिनचर्या' (अर्थात् दिनभर के लिए निश्चित किया गया कार्य) जैसे शब्दों से भी स्पष्ट है। परन्तु बौद्धों की पारिभाषिक शब्दावली में, इसके द्वारा, केवल उन्हीं ऐसे विधि-निषेधात्मक नियमों का बोध होता जान पड़ता है जो, अधिकतर उनके यहाँ विहित धर्म के अनुसार, निर्धारित किये गये हों, जैसे, 'बोधिचर्या' के अंत में जुड़े हुए 'चर्या' शब्द के विषय में, कहा जा सकता है जहाँ पर यह वस्तुतः, 'बोधि' वा बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए पालन किये जाने वाले, आचारविशेष का सूचक समझा जाता है।[1]

चर्याओं के चार भेद हैं : १. बोधिपक्ष्यचर्या अर्थात् बोधित्व के अंगोंका अभ्यास, २. अभिज्ञाचर्या अर्थात् ज्ञान का अभ्यास, ३. पारमिताचर्या अर्थात् पूर्णता का अभ्यास और ४. सत्त्वपरिपाकचर्या अर्थात् जीव कल्याण के निमित्त उपदेशादि।[2]

---

१. शान्तिदेवेर 'बोधिचर्यावतार' (विश्वभारती-संस्करण) 'भूमिका' पृ० १। दे०, इस संबंध में 'खुद्दकनिकाय' का १५ वाँ पालिग्रंथ 'चरियापिटक' भी।

2. Bhikshu Sangharakshit : A Survey of Buddism, Third Edition 1966, Bangalore p 464.

यद्यपि 'गुह्यसमाज तंत्र' के अनुसरण में अनेक तंत्रों का निर्माण हुआ जिनकी रचना विविध स्तर के साधकों की आवश्यकताओं के आधार पर की गयी जो, वास्तव में, वर्ग-भेद का नहीं स्तर-भेद का द्योतक है। इनके नाम क्रियातंत्र, चर्यातंत्र, योगतंत्र और अनुत्तरतंत्र है। 'गुह्यसमाजतंत्र' इनमें से चौथी कोटि का है।[1]

इसी प्रकार 'पद' शब्द के लिए भी, ऐसा कहा जा सकता है कि यह प्रायः किसी पद्यविशेष मात्र को सूचित करता है, किन्तु इसका प्रयोग बहुधा, उन अनेक रचनाओं के लिए भी, किया गया मिलता है जो, छन्दबद्ध होने के साथ ही, गेयत्व के गुणों से भी युक्त रहा करती है तथा उस दृष्टि से हम स्वभावतः इसे 'गीति' वा 'गीत' शब्द का एक पर्याय तक भी स्वीकार कर ले सकते हैं। अतएव, हम देखते हैं कि, बौद्धसिद्धों की 'चर्या' नामक रचनाओं के लिए एक ओर जहाँ 'चर्यापद' की संज्ञा प्रदान की गयी है[2] वहाँ दूसरी ओर उन्हें 'चर्यागीति' भी कहा गया है।[3] डाक्टर

1. Do p. 416.
२. 'चर्यापद' (सं० मणीन्द्रमोहन वसु) कमला बुक डिपो, कलिकाता, तथा 'चर्यापद' (सं० अतीन्द्र मजुमदार) नया प्रकाश, कलिकाता।
३. 'चर्यागीतिकोश' (सं० डा० सुकुमार सेन) 'इंडियन' लिंग्विस्टिक्स, कलिकाता तथा 'चर्यागीति-परिचय' (ले० सत्यव्रत दे) 'जिज्ञासा' कलिकाता। और डा० बागची एवं शान्ति भिक्षु शास्त्री द्वारा संपादित संस्करण (१९५६) को भी 'चर्यागीति कोश' ही नाम दिया गया है।

सुकुमार सेन ने, इस विषय की चर्चा करते समय 'चर्या' के साथ 'पद' वाले उक्त प्रयोग पर, आपत्ति की है क्योंकि उनके अनुसार 'पद' शब्द का वास्तविक अर्थ कोई द्विपदी छन्द हुआ करता है जो यहाँ पर अभिप्रेत नहीं है।[1] इसी कारण उन्होंने ऐसे एक संग्रह का संपादन करते समय, उसे अन्यत्र 'चर्यागीति पदावली' जैसा शीर्षक प्रदान किया है।[2] पता चलता है कि 'चर्यागीति' शब्द का प्रयोग, संभवतः १७ वीं ईसवी शताब्दी तक किसी विशिष्ट संगीत रीति तक के लिए भी, होने लगा था।[3] बौद्धसिद्धों के चर्यापदों में आयी हुई सिद्ध कुक्कुरीपा की निम्नलिखित पंक्तियों अर्थात्,

'अइसनि चर्या कुक्कुरी पाएँ गाइउ,
कोड़ि मझें एकु हिअहिं समाइउ' ॥ चर्या २ ॥

से तो यह भी जान पड़ता है कि उन रचनाओं के लिए, कदाचित्, केवल 'चर्या' शब्द मात्र भी प्रयुक्त होता था जो न केवल गाये जाने योग्य हुआ करती थीं, प्रत्युत उनमें बहुधा गूढ़ भावों का समावेश कर दिया गया भी रहा करता था जिस दशा में उसके साथ 'पद' अथवा 'गीति' जैसे शब्दों का जोड़ा जाना उतना आवश्यक भी नहीं ठहराया जा सकता। संभवतः, ऐसी ही चर्या-संज्ञक रचनाओं के लिए, नेपाल की 'नेवारी' भाषा में पीछे 'चचा' शब्द का प्रयोग

---

१. 'इंडियन लिंग्विस्टिक्स', भा० १, पृ० ४०।
२. डा० सेन का वाला 'चर्यागीति पदावली' नामक संस्करण, साहित्य सभा, वर्धमान, सन् १९५६ ई०।
३. 'चर्यागीति परिचय' पृ० ३५।

भी होने लगा था। इसके सिवाय जहाँ तक हम, 'गीति' मात्र के विषय में भी, कह सकते हैं, इस शब्द का प्रयोग भी कभी-कभी, विभिन्न प्रकार के ग्रंथों का नामकरण करते समय, लगभग एक ही ढंग से, कर दिया जाता था, जैसा 'वज्रगीति', 'गुह्यगीति', 'दोहा-गीति', दोहाकोषगीति' आदि से स्पष्ट है।[1]

बौद्धसिद्धों वाले 'चर्यापद' वा 'चर्यागीति' नामक एक संग्रह प्रकाशन, सर्वप्रथम, स्व० महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित 'हाजार बछरेर पुराना बाङ्गाला भाषाय बौद्ध गान ओ दोहा' पुस्तक के अन्तर्गत, सन् १९१६ ई० में हुआ। इसे, वहाँ पर इसकी एक 'संस्कृत टीका, सरोवज्र एवं कान्हपाद के 'दोहा-कोषों' तथा 'डाकार्णव' के साथ प्रकाशित किया गया था और उसके 'मुखबंध' में यह भी कहा गया था कि इसका नाम, वैष्णव कीर्त्तन-गानों की भाँति, 'चर्यापद' होना चाहिए।[2] स्व० शास्त्री को उक्त चारों ही, उनकी नेपाल-यात्रा के अवसर पर सन् १९०७ ई० में वहाँ के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित मिले थे। उनकी इस महत्त्वपूर्ण उपलब्धि की चर्चा, विद्वज्जनों के बीच, प्रायः उसी समय से आरम्भ हो गयी और बंगाली-समाज इस ओर, स्वभावतः विशेषरूप से, आकृष्ट हुआ जिस कारण इसकी रचनाओं का संबंध,

१. 'सिद्ध सरहपाद कृत दोहाकोश' (सं० महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, 'बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९५७ ई०) 'भूमिका', पृ० १७।

२. द्वितीय संस्करण (सन् १३५८ बंगाब्द) पृ० ४।

प्रधानतः बंगाल प्रांत के साथ सिद्ध करने के प्रयास में, वहाँ क्रमशः विभिन्न प्रकार का विचार-विमर्श भी किया जाने लगा। फलतः, कहा जाता है कि, किसी विजय चन्द्र मजुमदार नामक लेखक ने, बंगला के विषय में अपनी कोई पुस्तक लिखते समय सन् १९२० ई० में, इसके भाषातत्त्व का विवेचन किया और, इस प्रश्न पर फिर प्रसिद्ध भाषाविद् डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने, सन् १९२६ ई० में व्यापक प्रकाश डाला।[१] इसीप्रकार, इन रचनाओं के अंतर्गत पायी जाने वाली 'सन्ध्या-भाषा' के विषय में, जो मत, पहले-पहल, स्व० शास्त्री ने प्रकट किया था और जिस पर, फिर सन् १९२४ ई० में, पी० के० बनर्जी ने भी अपने कुछ विचार व्यक्त किये थे[२] उसके संबंध में स्व० विधुशेखर शास्त्री ने, उसे 'सन्धा भाषा' जैसी संज्ञा प्रदान कर, अपना एक भिन्न मत प्रकट किया।[३] तत्पश्चात् सन् १९२८ ई० में, डा० शहीदुल्ला ने, अपनी फ्रेंच थीसिस लिखते समय, उक्त रचनाओं वाले बौद्धसिद्धों की धार्मिक विचारधारा के विषय में प्रश्न छेड़ा जिसे भी कुछ अंशों में पहले पहल स्व० शास्त्री ने ही उठाया था।[४] हिन्दी के लेखकों में इस विषय पर सर्वप्रथम चर्चा

---

२. 'दि ओरिजिन ऐंड डेवलेपमेंट आफ दि बेंगाली लैंग्वेज' (कलकत्ता यूनिवर्सिटी) सन् १९२६ ई०।

३. 'विश्वभारती क्वार्टर्ली' (शान्तिनिकेतन, १९२४ ई०)।

१. 'सन्धा भाषा' (ले० विधु शेखर शास्त्री) 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली' भा० ४ अं० २ (१९२८ ई०)।

२. 'ले शान्त्स मिस्तीक्स' (ले० डा० एम्० शहीदुल्ला, पेरिस १९२८ ई०)।

करने वाले स्व० राहुल सांकृत्यायन थे जिन्होंने, चर्यापदों तथा दोहाकोशों की भाषा के अतिरिक्त, उनमें व्यक्त किये गये मत का भी विस्तृत विवेचन किया और इस संबंध में प्रकट किये गये उनके विचारों का कुछ अंश, फ्रेंच भाषा में अनूदित होकर, सन् १९३४ ई० में प्रकाशित हुआ[1] जिसके द्वारा उनकी कतिपय स्थापनाओं की मौलिकता की ओर भी अनेक विद्वान् आकृष्ट हुए। स्व० शास्त्री ने बौद्धसिद्धों वाली उपर्युक्त रचनाओं का जो पाठ प्रकाशित कराया था उसके सभी स्थल असंदिग्धरूप में स्वीकृत कर लिये जाने योग्य नहीं थे तथा, मूल प्रति के कुछ त्रुटिपूर्ण रह जाने के कारण, उनके पद्यों की वास्तविक संख्या में कुछ कमी भी आ जाती थी जिसकी पूर्ति का किया जाना आवश्यक था और विद्वानों का ध्यान इस बात की ओर भी गये बिना नहीं रहा। डा० प्रबोध चन्द्र बागची ने, सन् १९३८ ई० में, उक्त सभी रचनाओं के किसी तिब्बती अनुवाद को प्रकाशित करके, उसके आधार पर इस कार्य को डा० चाटुर्ज्या के साथ पूरा कर डाला[2] जिसके उपरान्त इस ओर कुछ करने का विशेष प्रयास किसी अन्य को नहीं करना पड़ा। फलतः इसके आगे उन चर्यापदों एवं दोहाकोशों के पृथक्-पृथक् सुसंपादित संस्करण निकालने की ओर भी कई लेखक प्रवृत्त हो गये। तदनुसार कभी मणीन्द्र मोहन वसु, डा० सुकुमार

१. 'जर्नल आफ़ दि एशियाटिक सोसायटी', अक्तूबर, सन् १९३४ ई०।

२. 'मेटीरियल्स फ़ार ए क्रिटिकल एडिशन आफ़ दि ओल्ड बेंगाली चर्यापदाज' भा० १ (कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३२ ई०)।

सेन, श्री सत्यव्रत दे तथा श्री अतीन्द्र मजुमदार ने क्रमशः उन सभी चर्या-संज्ञक रचनाओं के संग्रह, न केवल उनकी टीका वा भाष्य के साथ, प्रकाशित किये, प्रत्युत उन्होंने उनके विषय में अपनी-अपनी भूमिकाएँ भी दे दी।[1] इसी प्रकार, उनसे पृथक् प्रकाशित किये गये 'दोहाकोशों' पर भी अभी तक, लगभग उसी ढंग से, काम होता आया है।[2]

बौद्धसिद्धों की उपर्युक्त रचनाओं वाली जो प्रति स्व० शास्त्री अपने साथ बाहर से लाये थे उसमें चर्याओं की संख्या केवल साढ़े छियालिस तक ही पहुँच पाती थी, कारण यह कि उससे २३ वीं संख्या की चर्या अधूरी रह गई थी और २४ वीं एवं २५ वीं का अस्तित्व ही नहीं था क्योंकि उसकी मूल प्रति में ही ३४ वें पृष्ठ के अनन्तर ३९ वां पृष्ठ आ जाता था और, इस प्रकार उसके चार पृष्ठ त्रुटित हो गये थे।[3] परंतु, जब डा० बागची उन्हें तन्जूर-संग्रह

१. श्री वसु का 'चर्यापद' (सन् १९४३ ई०) डा० सुकुमार सेन का 'चर्यागीति कोष' (सन् १९४८ ई०) और 'चर्यागीति पदावली' (सन् १९५६ ई०) सत्यव्रत दे का 'चर्यागीति परिचय' (सन् १९६० ई०) श्री अतीन्द्र मजुमदार का चर्यापद (बंगला) सन् १९६१ ई० एवं (अंग्रेजी) सन् १९६७ ई०)।

२. डा० बागची का 'दोहाकोष' (सन् १९३८ ई०) डा० शहीदुल्ला का संस्करण (सन् १९४२ ई०) तथा राहुलजी का 'सिद्ध सरहपाद का 'दोहाकोश' (सन् १९५७ ई०)।

३. 'बौद्ध गान ओ दोहा' (द्वितीय संस्करण) की पाद टिप्पणी पृ० ४०।

वाले तिब्बती अनुवाद के साथ लाये तो, यह संख्या ठीक ५० वीं तक चली जाती मान ली गयी। इसके सिवाय, चर्याओं वाली उपर्युक्त संस्कृत-टीका को ध्यान पूर्वक देखने पर, अब से यह भी अनुमान किया जाने लगा कि उनमें से १० वीं चर्या के अनन्तर कोई एक अन्य भी वैसी रचना रही होगी जिसके रचयिता का नाम 'लाड़ी डोम्बी' रहा[1] जिसके अनुसार उक्त ५० वाली चर्या संख्या ५१ तक भी बढ़ा दी जा सकती थी। इस प्रकार, उनकी वास्तविक संख्या के विषय में अनुमान करने के अतिरिक्त, उनके पाठ-निर्णय का भी कार्य बराबर होता आया जिसमें विशेष कर डा० बागची डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, डा० शहीदुल्ला तथा डा० सुकुमार सेन ने विशेष भाग लिया। तदुपरांत डा० शशिभूषण दास गुप्त को लन्दन विश्वविद्यालय के डा० आर्नल्ड बेक से पता चला कि नेपाल में अभी वैसी १०० नवीन रचनाएँ और भी मिल सकती हैं तथा, इसके अनुसार जानकारी प्राप्त करने पर, उन्हें इसकी भी संभावना प्रतीत हुई कि वह संख्या लगभग २५० तक भी पहुँच जा सकती है। परंतु फिर भी उन्होंने उनमें से केवल १०० को ही अपने लिए चुना जिनमें से भी १९ तो प्रायः उसी कोटि की समझी जा सकती थी जिन्हें स्व० शास्त्री अपने साथ लाये थे, ४५ के रचनाकाल का अनुमान १२ वीं से १६ वीं ईसवी शताब्दी तक के भीतर किया जा सकता था और शेष ३६ के लिए यह भी

१. 'लाड़ीडोम्बीपादानाम् सुनेत्यादि-चर्याया व्याख्या नास्ति' (वही) पृ० २१।

कहना संभव था कि उनकी रचना, उनसे भी अपेक्षाकृत पीछे, की गयी होगी।[1] इनमें अनेक संस्कृत शब्दों तक के प्रयोग पाये गये तथा यह भी अनुमान किया गया कि इनकी रचना का नेपाल में किया जाना अधिक संभव है। डा० दासगुप्त ने इनके विषय में 'बंगीय साहित्य-परिषद' कलकत्ता के समक्ष, ७ वीं सितम्बर सन् १९६३ ई० को कोई एक भाषण भी दिया जिसके द्वारा तत्संबंधी भावी अनुसन्धान-कार्य के लिए कुछ नयी दिशा प्राप्त हो सकी। इसके पहले डा० सुकुमार सेन ने, अपनी 'चर्यागीति पदावली' का संपादन करते समय, उसके 'परिशिष्ट' भाग में, कतिपय नवीन चर्याओं का पूरा वा अधूरा रूप मुद्रित करा दिया था[2] तथा इसी प्रकार, सन् १९५७ ई० में, स्व० राहुल सांकृत्यायन ने भी अपने ग्रंथ सिद्ध सरहपाद कृत 'दोहाकोश' का सम्पादन करते समय, उसके 'परिशिष्ट १' के अन्तर्गत, अनेक ऐसी चर्यागीतियों का प्रकाशन करा दिया था जिनमें से १५ विनयश्री की, १ सुमयि की, १ लुई की तथा १ कण्हपा की रचनाएँ बतलायी गयी थीं[3]। परंतु डा० दासगुप्त वाली उपर्युक्त चर्याओं के भी अब तक प्रकाशन में न आने के कारण किसी ऐसे निर्णय पर पहुँच पाना संभव नहीं जिसमें आज तक उपलब्ध सभी ऐसी रचनाओं की वास्तविक संख्या अमुक

---

१. 'चर्यापदाज' (सं० अतीन्द्र मजुमदार) पृ० २-३ (पाद टिप्पणी)।

२. पृ० ११६-२३।

३. पृ० ३६३-९।

हो सकती है। इसके सिवाय, यह भी हो सकती है कि भविष्य में अभी अन्य बहुत-सी रचनाएँ ऐसी मिल सकें जिन्हें उपर्युक्त रचनाओं के मेल में रखा जा सके अथवा उनमें से कुछ ऐसी भी मिल जायँ जो पूर्व परिचित सिद्धों की ही हो; किन्तु जिनके विषय में अभी तक हमें कोई सूचना तक भी नहीं प्राप्त हो सकी है।

चर्यापद-संग्रह

स्व० शास्त्री द्वारा सर्वप्रथम उपलब्ध की गयी तथा तदुपरान्त अनेक अन्य विद्वानों द्वारा परीक्षित एवं संशोधित चर्यागीतियों की वास्तविक संख्या केवल ५० मात्र स्वीकार कर लेने पर हमें पता चल जाता है कि उनके रचयिताओं के नाम तथा इनकी विभिन्न चर्याओं की पृथक्-पृथक् संख्या का विवरण किस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। तदनुसार प्रसंगवश हम किसी ऐसे परिणाम तक भी पहुँच जाते हैं कि इनमें से कई ने कदाचित् अपने-अपने प्रत्यक्ष नाम नहीं दिये होंगे तथा इन सभी की ऐसी रचनाओं का संग्रह करते समय, उनके एक ही समान क्रम-संख्या में रखने की ओर, कोई विशेष ध्यान भी नहीं दिया गया होगा। जैसे,

रचयिता	रचना-संख्या	क्रमिक संख्या
१. लुई	२	१ और २९
२. कुक्कुरी पाद	३	२,२० और ४८
३. शान्ति	२	१५ और २६
४. शबर	२	२८ और ५०

रचयिता	रचना-संख्या	क्रमिक संख्या
५. दारिक	१	३४
६. विरुअ	१	३
७. गुण्डरी	१	४
८. चाटिल	१	५
९. कामील	१	८
१०. डोम्बी	१	१४
११. महिआ	१	१६
१२. वीणा	१	१७
१३. आजदेव	१	३१
१४. ढेण्ढणपाद	१	३३
१५. भादे	१	३५
१६. नाड़क	१	३७
१७. कङ्कण	१	४४
१८. जयनन्दी	१	४६
१९. धाम	१	४७
२०. सरह	४	२२, ३२, ३८ और ३९
२१. भुसुकु	८	६, २१, २३, २७, ३०, ४१, ४३ और ४९
२२. कान्हूपाद	१३	७, ९, १० , ११, १२, १३, १८, १९, २४, ३६, ४०, ४२ और ४५
२३. तान्ति	१	२५
	५०	५०

परंतु इन सभी के नाम सर्वत्र एक ही प्रकार से दिये गये भी नहीं पाये जाते। उदाहरण के लिये गुण्डरी का नाम जहाँ 'गुड्डुरी' रूप में मिलता है वहाँ महिआ वा महिपा 'महित्ता' जैसा रूप ग्रहण कर लेता है तथा तान्ति का नाम केवल तिब्बती अनुवाद से प्रकट हो पाता है। इसी प्रकार भुसुकुपा का नाम कही 'जोई भुसुकु' कहीं 'राउत' तो अन्यत्र केवल 'भुसु' मात्र ही जान पड़ता है और कान्हूपाद को भी हम कही पर 'कान्ह' ती कहीं 'कान्हिल' रूप में प्रयुक्त पाते हैं जिसके कारण ऐसे कवियों का यहाँ पर एक से अधिक होना भी संभव है। इसके सिवाय, इस संबंध में यह भी अनुमान किया जा सकता है कि यदि अभी तक अपने मूल रूपों में अप्राप्त उपर्युक्त २३,२४,२५ एवं ४८ संख्यक चर्याएँ प्रकाश में आ जायं तो एकाध इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी मिल जायँ। कहा तो यहाँ तक भी जाता है कि वीणापाद का जो नाम उनकी चर्या (सं० १७) में आता है वह अर्थात् हेरुअ वीणा[1] अथवा 'रुद्रवीणा' वहाँ पर वस्तुतः कविनाम न होकर किसी वाद्ययंत्र विशेष का सूचक मात्र ही हो सकता है और इसी प्रकार २८ उवं ५० संख्यक चर्याओं के अंतर्गत जो 'शबर' शब्द प्रयुक्त हुआ है वह भी वहाँ प्रत्यक्ष रूप में, उन दोनों रचनाओं के किसी कविनाम का सूचक नहीं जान पड़ता। दो चार चर्याओं को ध्यान पूर्वक

---

१. वाद्य ततेति वीणा स्यादष्टधा सा निरूप्यते।
रुद्रवीणा ब्रह्मवीणा तौम्बुरं स्वरमण्डलम्।
पिनाकी किन्नरी दण्डी रावणस्य करोऽपरः॥—अहोबिलः

देखने से तो हमें ऐसा भी प्रतीत होने लगता है कि उनमें प्रयुक्त नामों के सार्थक अथवा अन्य किसी आदरसूचक शब्द के आ जाने के कारण, उनके रचयिताओं का वैसे लोगों के प्रति श्रद्धा प्रदर्शन करना भी मान लिया जा सकता है, जिसका तात्पर्य यह होगा कि उनके वास्तविक कवि कोई अन्य व्यक्ति रहे होंगे।[1]

चर्यापदों वा चर्यागीतियों के रचयिताओं की उपर्युक्त सूची को देखते ही हमें स्वभावतः चौरासी सिद्धों की उस नामावली का स्मरण हो आता हैं जिसे स्वयं राहुल जी ने, तिब्बत वाले 'सस्क्य विहार' के पाँच प्रधान गुरुओं (सन् १०९१-१२७९ ई०) की ग्रन्थावली 'सस्क्यब्कं-वुम्' के आधार पर तैयार की थी और जो चीनी देश की सीमा के पास वर्तमान 'तेरगी' मठ में छपी थी।[2] उसमें यहाँ वाले कम-से-कम २० नाम, किसी-न-किसी रूप में, आ जाते हैं और इनमें केवल 'चाटिल', 'ढेण्ढण' एवं 'ताड़क' मात्र का ही समावेश किया गया नहीं पाया जाता जिसका कारण यह भी एक एक हो सकता है कि इनके कोई अन्य नाम भी रहे होंगे जिनकी चर्चा वहाँ पर की गयी है। इसके सिवाय हम यहाँ पर यह भी देखते हैं कि, प्रस्तुत सूची के अंतर्गत, कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर वाले ग्रंथ 'वर्ण रत्नाकर' में पायी जाने वाली ८४ सिद्धों की सूची (जिसमें वस्तुतः केवल ७६ नाम ही आते हैं) के भी

१. 'चर्यागीति परिचय' (भूमिका) पृ० ७-८।

२. पुरातत्त्व निबन्धावली (राहुलसांकृत्यायन) पृ० ११८ (पाद-टिप्पणी)

कम-से-कम ९ नाम आ जाते हैं और उनमें उक्त 'चाटिल' (वहाँ पर 'चाटल') एवं 'ढेण्ढण' (वहाँ पर 'ढेण्ढस,' विशेष रूप से, उल्लेखनीय हैं।[1] चौरासी सिद्धों की सूची में साधारणतः सर्वप्रथम नाम सिद्ध लुईपा का दिया गया दीख पड़ता है जिसका एक उदाहरण यहाँ पर, उपलब्ध चर्याओं में प्रथम स्थान उनकी ही रचना को दे डालने में भी मिल जाता है, यद्यपि अन्य सिद्धों वाली चर्याओं को भी ठीक वैसे ही क्रम में दिया गया नहीं पाया जाता और न उन सभी की विचारधारा एवं साधना-पद्धति ही ठीक एक समान दीखती जान पड़ती है। वास्तव में यहाँ पर पायी जाने वाली वैसी सारी बातें सर्वत्र एक सी ही नहीं लक्षित होतीं, किंतु इतना स्पष्ट होने में कदाचित् कोई सन्देह भी नहीं रह जाता कि इन चर्याओं वाले कवियों का न्यूनाधिक संबंध बौद्धधर्म वाले वज्रयान वा सहजयान के साथ अवश्य रहा होगा। स्व० राहुलजी ने तो 'सस्क्य व्कं वुम् 'प' के ही पृष्ठ '६५ क' पर दी गयी एक ऐसी सूची भी उद्धृत की है जिसमें सर्वप्रथम नाम प्रसिद्ध सहजयानी सिद्ध सरहपा का आता है[2] तथा जिसके आधार पर उन्होंने अन्य सिद्धों के नाम भी उनकी ही वंश-परंपरा के भीतर लाने का यत्न किया है।[3] ऐसे नामों में अनेक वे भी आ जाते है जिनका प्रयोग,

१. 'नाथ सम्प्रदाय' (डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी) द्वितीय संस्करण पृ० ३१-४ पर उद्धृत।

२. 'पुरातत्त्व निबन्धावली' पृ० ११९ (पाद टिप्पणी)।

३. वही, पृष्ठ १२६-७ तथा 'वंशवृक्ष' जो उसके पृष्ठ ११२ के सामने दिया है।

प्रत्यक्षतः नाथ-पंथ, कौलज्ञान, कापालिक संप्रदाय जैसे विभिन्न धार्मिक वर्गों से संबद्ध सिद्धों के लिए, किया जाता दीख पड़ता है और वे उन दृष्टियों से बनायी गयी सूचियों में प्रायः मिला भी करते हैं। सभी सिद्धों का आविर्भाव ठीक एक ही समय नहीं हुआ था और न उन सभी का निवास-स्थान ही कोई एक प्रान्त विशेष रहा। इस कारण उन सभी का, किसी क्रम के अनुसार, व्यक्तिगत रूप में, दीक्षित होता आना भी सिद्ध करना कोई सरल बात नहीं है। यह बात दूसरी है कि उनमें से अधिकांश अथवा कम से कम उनकी एक उल्लेखनीय संख्या ऐसे साधकों की ही थी जिनके लिए एक दूसरे के साथ निकट सम्पर्क में आना उतना असंभव भी नहीं कहला सकता।

इन चर्यापदों वा चर्यागीतियों का रचना-काल क्या हो सकता है इस बात का निर्णय कर पाना सरल नहीं है। इनमें से किसी भी रचना के अंतर्गत कोई ऐसी घटना अथवा कोई ऐसा व्यक्ति उल्लिखित नहीं जिसे पूर्णतः ऐतिहासिक माना जा सके। इनमें एकाध ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं जिनसे पता चल सकता है कि अमुक चर्या का रचयिता किसी अमुक आचार्य का शिष्य रहा होगा और, इस दूसरे की भी रचना के उपलब्ध होने के कारण, इसे हम उसका पूर्ववर्त्ती भी ठहरा सकते हैं। परंतु, यदि इन दोनों में से किसी के भी संबंध में हमारे पास कोई ऐतिहासिक सामग्री उपस्थित नहीं, उस दशा में, हमें इस ओर से कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण संकेत नहीं मिल पाता जिसके द्वारा किसी अनुमान तक पर भी पहुँचा

जा सके। इसके सिवाय ऐसे किसी प्रश्न का कोई संतोषजनक समाधान हमें इन रचनाओं की उपलब्ध भाषा मात्र पर विचार करने पर भी, नहीं प्राप्त हो पाता। इसका जो रूप आज हमारे सामने है वह, सर्वप्रथम, किसी मूल प्रति वाला नहीं है। यह अधिक से अधिक उसकी उन कतिपय प्रतिलिपियों वाले रूपों का ही प्रतिनिधित्व कर सकता है जो हमें रचनाकारों के अपने क्षेत्र में भी नहीं मिली हैं और इस कारण ऐसा असंभव नहीं कि उनमें अनेक प्रकार की भाषागत अथवा लिपिगत अशुद्धियों का समावेश हो गया होगा। अतएव, अन्तःसाक्ष्य का बल यथेष्ट रूप में न पा सकने के कारण, हमें विवश होकर केवल वहिःसाक्ष्य का ही आधार स्वीकार करना पड़ जाता है जो भी कभी-कभी अधूरा तथा भ्रांतिकारक भी बन जा सकता है। जो ऐसे प्रमाण हमें, अपने यहाँ, मिलते हैं उनमें, उपर्युक्त सिद्ध कवियों में से किसी एकाध की केवल प्रासंगिक चर्चा मात्र आगई जान पड़ती है तथा इनके जो कुछ भी वृत्तान्त हमें, तिब्बत जैसे देशों से, मिल पाते हैं उनमें अधिक पौराणिक एवं कपोल-कल्पित बातें ही आगई दीख पड़ती हैं।

फिर भी अनेक विद्वानों ने आज तक इस ओर बहुत कुछ यत्न किया हैं और यद्यपि उनमेंसे कोई भी किसी ठोस एवं प्रामाणिक निर्णय तक नहीं पहुँच पाया है, उनके द्वारा किये गए अनुमानों के भी आधार पर, हम इस विषय में अपनी कुछ धारणा बना सकते हैं। जिन लोगों ने इस प्रश्न के ऊपर विचार किया हैं उनमें अधिकतर वे लोग ही हैं जिन्होंने सभी सिद्धों के विषय में एक साथ सोचा है

केवल चर्यागीतियों की दृष्टि से निर्णय करने की चेष्टा कदाचित् केवल एकाध ने ही की होगी। सभी सिद्धों के आविर्भाव-काल अथवा उनके पूरे युगवाले प्रश्न को लेकर चलनेवाले अपना विवेचन, सर्वप्रथम, स्वभावतः पिछले सिद्धों से अरंभ करते हैं और कभी-कभी इस बात को भी छोड़ देते हैं कि उनमें से किसको अंतिम सिद्ध तथा किसे आदिसिद्ध ठहराया जाय। ऐसा करते समय उन्हें बहुधा उन कतिपय परंपराओं के आधार पर लिखे गये कुछ विवरणों से भी सहायता मिलने लगती है जो किसी क्षेत्र-विशेष के अंतर्गत बहुत दिनों से प्रचलित चली आई है। ऐसे लोगों में स्व० राहुल जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिन्होंने अपना कथन, अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ता के साथ किया है। उनका कहना है कि बुद्धज्ञान, जो सिद्ध सरह के सहपाठी एवं शिष्य कहला कर प्रसिद्ध हैं, दर्शन में हरिभद्र के भी शिष्य थे जो स्वयं शान्त रक्षित (मृ० ८४० ई०) के शिष्य थे। इसके सिवाय, बुद्धज्ञान एवं हरिभद्र दोनों महाराज धर्मपाल (सन् ७६९-८०९) के समकालीन रहे तथा इसी प्रकार सरह के शिष्य शबरपा लुईपा के गुरु थे जो उक्त महाराज धर्मपाल के यहाँ कायस्थ वा लिपिक बतलाये गये हैं। इस प्रकार सरहपा का आदिसिद्ध होना स्वीकार कर लिया जा सकता है तथा यह भी मान लिया जा सकता है कि सिद्ध कालपा जो अवधूतीपा (१० वीं शताब्दी) के शिष्य चेलूकपा के शिष्य थे अंतिम सिद्ध रहे होंगे, क्योंकि उनकी ८४ वीं संख्या उन्हीं तक पूरी हो जाती भी पायी जाती है। अतएव, अपनी इस

प्रकार की धारणा के आधार पर वे सिद्ध-युग की अवधि की दोनों ओर वाली सीमाओं को क्रमशः सन् ७५० ई० तथा सन् ११७५ ई० निर्धारित करते दीख पड़ते हैं[1] जिसे ८वीं से लेकर १२वीं शताब्दी का समय भी बतलाया जा सकता है।

स्व० राहुलजी की उक्त धारणा तथा उनके द्वारा उसके लिए प्रस्तुत किये गये तर्कों के संबंध में अनेक प्रकार की आपत्तियाँ की जा सकती हैं तथा सिद्ध लुईपा को आदिसिद्ध मानकर चलने वाले लेखकों की ओर से कई नये प्रश्न भी उठाये जा सकते हैं। परंतु, जहाँ तक सिद्ध-युग वाली अंतिम सीमा के १२ वीं शती तक पहुँचने की बात है, इसे प्रायः सभी ने किसी न किसी ढंग से माना है और उनके साथ इनका मतभेद, विशेषकर उनके प्रारंभिक छोर को लेकर ही, व्यक्त किया गया है। तदनुसार डा० बागची ने 'कौलज्ञान निर्णय' को संपादित करते हुए उसकी अपनी 'भूमिका' के अंतर्गत, लुईपा एवं मत्स्येन्द्रनाथ को अभिन्न ठहरा कर उक्त समय का १०वीं शती के प्रारंभिक दिनों में होना अनुमान किया है[2] तथा इसी प्रकार लुईपा को आदिसिद्ध के रूप में स्वीकार करते हुए डा० सुकुमार सेन ने ऐसे मत को 'भूल' बतला कर उसे ११वीं शती का प्रथमार्द्ध होना अधिक संभव समझा है।[3] इन्होंने इतना और भी स्पष्ट कर दिया है कि चर्यागीतियों का रचना-काल भी भाषा के विचार से मोटे तौर पर ११वीं

१. 'पुरातत्त्व निबन्धावली' पृ० १२६-७। २. पृ० २५-८।
३. 'चर्यागीति पदावली' भूमिका पृ० ७।

१२वीं शती ही ठहराया जा सकता है[1]। 'संगीत रत्नाकर' (रचनाकाल १२१०-४७) अंतर्गत चर्याओं के गाये जाने का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है जिस बात को ध्यान रखते हुए सत्यब्रह्म दे ने उनकी रचना का समय १० वीं से लेकर १२ वीं शती तक होना अनुमान किया है[2] और यह भी उसी मेल में आ जाता है। स्व० राहुलजी ने सिद्ध लुईपा की चर्चा करते समय उनके विषय में कहा है कि वे पहले राजा धर्मपाल (सन् ७६९-८०९ ई०) के यहाँ लिपिक (कायस्थ) का काम करते थे जहाँ पर किसी समय शबरपा के विचरते हुए आ जाने पर इन्होंने उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया[3] और चूँकि ये सिद्ध शबरपा सिद्ध सरहपा के शिष्य थे इस कारण सिद्ध लुईपा सिद्ध सरहपा की तीसरी पीढ़ी में आते हैं। इन लुईपा का आविर्भाव-काल भी वे इसी कारण, ९वीं शताब्दी में निश्चित करना चाहते हैं, जहाँ उपर्युक्त मतों के आधार पर उसका १० वीं से लेकर ११वीं शताब्दी तक भी चला जाना संभव समझा जा सकता है। इस प्रकार, जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है, जब तक इसके संबंध में कोई स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता और न कम-से-कम उक्त लेखकों द्वारा किये गए अनुमानों वाले आधार-ग्रन्थादि प्रकाशित होकर सभी के सामने नहीं आ जाते तब तक, इस बात का अंतिम निर्णय कर पाना कि

---

१. वही, पृ० ६।

२. 'चर्यागीति परिचय' पृ० १९-२०।

३. 'पुरातत्त्व निबन्धावली' पृ० १४३।

वास्तव में, आदिसिद्ध कौन था, उसका ठीक जीवन-काल क्या रहा तथा ८४ सिद्धों में से सबके अंत में आनेवाला किसे और किस कारण कह सकते हैं, अत्यंत कठिन है। वर्त्तमान स्थिति के रहते हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि जहाँ तक उपर्युक्त चर्यापद वा चर्यागीतियों के रचना-काल के संबंध में अनुमान किया जा सकता है, यह समय १२वीं ईसवी शताब्दी के पूर्व का अवश्य रहा होगा। इन रचनाओं के तिब्बती अनुवाद वाले कीर्त्तिचन्द्र या चन्द्रकीर्त्ति का जीवन-काल हमें ज्ञात नहीं और इनकी संस्कृत टीका के रचयिता मुनिदत्त के लिए भी डा० सेन का कहना है कि उन्हें अनुमानतः १४वीं शताब्दी का स्वीकार कर लेने में अधिक भूल न होगी[1]। अतएव इसके द्वारा भी उक्त बात का ही समर्थन होता है।

१. 'चर्यागीति पदावली' (भूमिका) पृ० ५-६।

चर्यापद के रचयिता

उक्त चर्यापदों वा चर्यागीतियों में से सर्व प्रथम सिद्ध लुईपा की रचना है जिनके विषय में अभी कुछ चर्चा कर आये हैं और कुछ लोगों का कहना है कि उनके आदिसिद्ध होने का समर्थन उक्त प्रकार की बातों से भी हो जाता जान पड़ता है। स्व० शास्त्री ने तो इनके संबंध में इतना और भी अनुमान किया है कि 'ये बंगाली थे इसमें सन्देह नहीं' तथा उन्होंने इनका जन्म-स्थान भी 'राढ़देश' स्थिर किया है और यह स्पष्ट शब्दों में बतलाया है कि इन्होंने एक 'नूतन संप्रदाय' चलाया था[1] जो संभवतः सिद्धों का ही हो सकता है। इनके बंगाली होने का समर्थन डा० विनयतोष भट्टाचार्य आदि अन्य कई विद्वानों ने भी किया है जिसके लिए उन्हें एक प्रमाण इस बात में भी मिल जाता है कि 'तन्जूर' नामक तिब्बती संग्रह के अंतर्गत, इन्हें कहीं 'भांगाली' कहा गया है। परंतु स्व० राहुलजी ने इस पर आपत्ति करते हुए कहा है कि "भोटिया ग्रंथों में 'बँगल' या 'भँगल' या 'भगल' मिलता है जिस नाम से भोटिया लोग विक्रमशील वाले प्रदेश को पुकारते थे और जिसका चिह्न भागलपुर के नाम में अब भी मौजूद है।"[2] इसके सिवाय सिद्ध लुईपा के लिए लामा तारानाथ

---

१. 'बौद्ध गान ओ दोहा' पृ० २१।

२. 'पुरातत्त्व निबन्धावली' पृ० १४३ (पाद टिप्पणी)।

का भी कथन है कि ये 'उदयान' वा ओडियान (संभवतः) स्वात-क्षेत्र की काबुल घाटी वाले राजा सामन्त के यहाँ लिपिक का काम करते थे जिनका नाम 'सामन्त शुभ' जैसा था और वहीं पर इन्होंने किसी समय महासिद्ध शबरी से भेंट की थी, श्मशान पर कोई साधना की थी तथा फिर बंगाल में आकर गंगा के किनारे १२ वर्षों तक मछलियों की आँतें खा-खाकर ध्यान का अभ्यास किया था और किसी चामत्कारिक ढंग से राजा एवं उनके मंत्री का मत-परिवर्तन भी किया था।[1] सिद्ध दारिकपा कदाचित् पहले उक्त राजा ही थे उन्होंने भी इन्हें अपने गुरुवत् स्वीकार किया है। डा० बागची ने इनके विषय में लिखते समय, इनके उक्त प्रकार मछलियों की आँतों पर काल-यापन करने के कारण, इनका एक तिब्बती नाम 'मत्स्यान्त्राद' भी बतलाया है और अनुमान किया है कि ये इस प्रकार प्रसिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ से अभिन्न भी रहे होंगे। इस संबंध में उन्होंने यह भी कहा है कि, हठयोगी परंपरा के अनुसार, मत्स्येन्द्रनाथ का किसी शाबरानन्द का ठीक पूर्ववर्ती होना भी सिद्ध है।[2] कहा जाता है कि लुईपा की पाँच अपभ्रंश वाली पुस्तकें अनुवादित रूप में 'तन्जूर' के अंतर्गत पायी जाती हैं जिनमें से 'अभिसमय विभंग' कदाचित्, वही है जिसका परिशिष्ट वाला अंश दीपंकर श्रीज्ञान ने लिखा था तथा इसी प्रकार एक दूसरी

---

१. 'मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ' (भूपेन्द्रनाथ दत्त) कलकत्ता १९४४ ई० पृ० ११-२।

२. 'कौल ज्ञान निर्णय' (भूमिका) पृ० २४।

वह है जिसे 'लुइपाद गीतिका' अथवा 'तत्त्वस्वभाव दृष्टिनाम दोहाकोष गीतिका' जैसा कोई नाम दिया गया है। हो सकता है कि इनके इस दूसरे ग्रंथ से ही वे दो चर्यागीतियाँ भी ली गयी हों जिन्हें यहाँ पर संगृहीत किया गया है।

चर्यागीतियों में से द्वितीय रचना कुक्कुरीपा के नाम से मिलती है जिसकी अन्य ऐसी दो चर्याएँ भी यहाँ पर संगृहीत हैं। इन कुक्कुरीपा के ही विषय में कदाचित् लामा तारानाथ ने लिखा है कि ये किसी ऐसी वज्रयोगिनी के साथ रहा करते थे जो कुतिया जैसी जान पड़ती थी और इनका जन्म कहीं बंग प्रदेश में हुआ था जहाँ से ये नालन्दा में आये थे।[1] परंतु स्व० राहुलजी के अनुसार इनका जन्म कपिलवस्तु वाले देश में किसी ब्राह्मण के कुल में हुआ था।[2] डा० सेन का तो अनुमान है कि इनके दो पदों में किसी नारी की उक्ति जैसी कथना-शैली प्रतीत होने के कारण, उन्हें किसी नारी की ही रचना समझना युक्तिसंगत होगा। इसके सिवाय इसमें प्रयुक्त नाम 'कुक्कुरी' के आगे 'पा' वा 'पाद' के आजाने से हम यह भी कह सकते हैं कि इनकी रचना उनके किसी शिष्य ने की होगी।[3] कहते हैं कि कुक्कुरीपा बहुत बड़े तान्त्रिक थे जिनकी १६ पुस्तकों के पाये जाने का पता चलता है। इन्हें चर्पटी वा चर्पटपा का शिष्य होना तथा इसी प्रकार मणिभद्रा का इनकी

१. 'मिस्टिक टेल्स' पृ० ४७।
२. 'पुरातत्त्व निबन्धावली' पृ० १५२-३।
३. 'चर्यागीति पदावली' (भूमिका) पृ० ७-८।

शिष्या होना भी कहा जाता है जिस दृष्टि से ये १०वीं शताब्दी के हो सकते हैं।[1]

कुक्कुरीपा के अनंतर यहाँ फिर विरुअ अथवा विरुपा का नाम आता है और इनकी केवल एक ही चर्या दी गयी है। इनके लिए भी इन रचना के अंतर्गत कतिपय आदरसूचक शब्दों के प्रयोग किये गये जान पड़ते हैं जिस कारण डा० सेन का अनुमान है कि यह वस्तुतः इनकी न होकर इनके किसी शिष्य की हो सकती है। डा० सेन का यह भी कहना है कि विरुपा प्रसिद्ध सिद्ध काण्हपा का कोई नामान्तर भी हो सकता है क्योंकि उनकी एक चर्या में उनके द्वारा स्वयं भी कहा गया है,

'केहो केहो तोहोरे विरूआ बोलइ।
विदुजन लोअ तोरे कण्ठ न मेलइ॥ चर्या १८।[2]

किन्तु यहाँ पर हमें यह बात उतनी तर्क-संगत सी नहीं लगती और न इसका कोई प्रामाणिक समर्थन होता ही दीख पड़ता है। लामा तारानाथ ने इनके संबंध में अनेक विचित्र-विचित्र चमत्कारों का उल्लेख किया है और उन्होंने एक स्थल पर यह भी कहा है कि एक तो महान् सिद्धाचार्य विरुपा थे ही एक अन्य छोटे विरुपा भी थे।[3] उधर स्व० राहुलजी का कथन है कि उक्त सिद्ध कण्हपा इन विरुपा के शिष्य थे और इसी प्रकार, एक इनके अन्य शिष्य

१. 'पुरातत्त्व निबन्धावली' पृ० १५२।
२. 'चर्यागीति पदावली' (भूमिका) पृ० ८।
३. 'मिस्टिक टेल्स' पृ० १४ तथा ६०।

डोंबीपा भी थे। उन्होंने इनका जन्मस्थान कोई 'त्रिउर' नामक देश बतलाया है जो संभवतः त्रिपुरा भी हो सकता है।[1] इनका बहुत बड़ा मद्यपी होना जान पड़ता है, किन्तु इनके द्वारा रचे गये ग्रन्थों के आधार पर यह भी समझा जाता है कि ये बड़े योग्य साधक एवं आचार्य अवश्य रहे होंगे। इनकी अन्य उपलब्ध रचनाओं में इनके किसी 'दोहाकोष', 'विरुप गीतिका' जैसे कई संग्रहों के भी नाम लिये जाते हैं। इनका आविर्भाव-काल कदाचित्, ९वीं शताब्दी के पीछे जाता नहीं माना जा सकता जैसा कि प्रायः सभी लोगों ने अनुमान भी किया है।

चर्यागीतियों में से चौथी गुण्डरी की रचना है जिनके विषय में स्व० शास्त्री का कथन है कि "धामपाद का एक और नाम गुण्डरी-पाद रहा" जिस कारण ये दोनों एक और अभिन्न भी ठहराये जा सकते हैं, किन्तु इसके लिए वे कोई प्रमाण नहीं देते। इसके विपरीत डा० सेन 'गुण्डरी' नामको 'छद्म' बतलाते हुए भी उक्त मत को स्वीकार नहीं करते और कहते हैं कि इस नाम वाला व्यक्ति कोई पुराना सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि उसने 'द्वीन्द्रिय समापत्ति' (मैथुन) विषयक रूपकों का प्रयोग किया है तथा उसने ऐसे पारिभाषिक शब्द भी लाये हैं जो अधिकतर पिछली रचनाओं में दीख पड़ते हैं।[2] स्व० राहुलजी ने इनका किसी 'डिमुनगर देश में

---

१. 'पुरातत्त्व निबन्धावली' पृ० १४७।

२. 'चर्यागीति पदावली' (भूमिका) पृ० ६।

कर्मकार (लोहार) के कुल में पैदा' होना बतलाया है,[1] किंतु यह 'देश' कहाँ पर है इसे स्पष्ट नहीं किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि इनके शिष्य धर्मपाद के शिष्य सिद्ध हालिपाद रहे और यदि यह ठीक है तो इसके द्वारा स्व० शास्त्री के उक्त कथन पर भी प्रकाश पड़ता है जिसमें भ्रान्तिवश सिद्ध हालिपाद के दो गुरुओं को परस्पर एक और अभिन्न मान लिया गया है।

चाटिल नाम के साथ संगृहीत रचना को भी डा० सेन ने किसी ऐसे व्यक्ति के साथ संबद्ध करना चाहा है जो वस्तुतः उक्त चाटिल न होकर उसका कोई 'भक्त-शिष्य' हो सकता है, क्योंकि इनके अनुसार कोई भी चर्या-कर्त्ता अपनी किसी रचना में स्वयं अपने को 'अनुत्तरस्वामी गुरु' नहीं कह सकता। इसके सिवाय यहाँ पर,

'धामार्थे चाटिल साङ्कम गढ़ई' (चर्या ५)।

जैसा कथन होने के कारण यह भी संभव है कि यह रचना धामपा की भी हो सकती है अथवा चाटिल द्वारा किसी अपने शिष्य धाम के लिए निर्मित की गई भी ठहरायी जा सकती है।[2]

छठी एवं अन्य सात चर्याओं के रचयिता का नाम 'भुसुकु' दिया गया जान पड़ता है तथा उनमें से ४१वीं और ४३वीं में उसके साथ एक शब्द 'राउत' भी पाया जाता है जिस कारण, इस प्रकार के किसी बौद्ध सिद्ध का परिचय देते समय, स्वभावतः

---

१. 'पुरातत्त्व निबन्धावली' पृ० १५४।

२. 'चर्यागीति पदावली' (भूमिका) पृ० १०।

कठिनाई आ जाती है। कहते हैं कि भुसुकु नामधारी व्यक्ति का एक दूसरा नाम शान्तिदेव भी रहा[1] जिस कारण उसके बहुधा सिद्ध शान्तिपा होने का भी सन्देह उत्पन्न हो जाता है। किंतु यदि इन्हें (शान्तिपा को) रत्नाकर शान्ति से अभिन्न मान लिया जाय तो उस प्रश्न का कुछ-न-कुछ समाधान भी हो जाता है। शान्ति देव जो 'बोधिचर्यावतार' आदि के लेखक रूप में प्रसिद्ध हैं उनके साथ इस भुसुकु नाम वाले शान्तिदेव की अभिन्नता सिद्ध कर पाना कठिन प्रतीत होता है तथा इस विषय में अनेक विद्वानों की सहमति भी देखी जाती है। 'बोधिचर्यावतार' के रचयिता शान्तिदेव के गुरु जयदेव थे जहाँ भुसुकुपा के गुरु मंजुवज्र थे। प्रथम के पिता सुराष्ट्र नरेश कल्याण वर्मन थे जहाँ भुसुकुपा के पिता मंजु वर्मन कहे गये हैं। प्रथम के लिए कहा गया है कि वे मगधराज पंच सिंह के मंत्री रहे जहाँ भुसुकु का मध्यदेशीय अचल सेन की सेना में 'राउत' पद पर काम करना प्रसिद्ध है। इस प्रकार, किसी ठोस ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में इतना स्वीकार कर लेने पर हमारी प्रवृत्ति ऐसा अनुमान कर लेने की ओर भी हो जाती है कि ये भुसुकु शान्तिदेव संभवतः वे ही रहे होंगे जिन्हें लामा तारानाथ ने जाति से क्षत्रिय बतलाया है तथा जिस बात का समर्थन, 'स-स्य-व्कं-वुम्' वाली सूची के आधार पर भी, हो जाता जान पड़ता है। इन भुसुकु के लिए कहा जाता है कि ये किसी राजा के यहाँ घुड़सवार के रूप में रहा करते थे जिसके अनंतर

१. 'चर्यागीति पदावली' (भूमिका) पृ० १०।

ये सिद्धों वाली साधना की ओर उन्मुख हुए। स्व० शास्त्री ने इन्हें बंगाली कहा है,[1] किंतु लामा तरानाथ के अनुसार ये कहीं महाराष्ट्र प्रदेश के मूल निवासी थे।[2] इसके विपरीत, स्व० राहुलजी की धारणा के अनुसार, इन्हें मगध का ही रहनेवाला ठहराया जा सकता है जहाँ नालन्दा में भी ये रह चुके थे। नालन्दा में रहते समय सदा भास्वर वा उज्वल दीख पड़ने के कारण, इन्हें वहाँ पर 'भुसुकु' भी कहा जाने लगा था।[3] इनका समय ९वीं १०वीं शती हो सकता है। इस संबंध में यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि तिब्बती परंपरानुसार लिखी गई एक पुस्तक में इनके विषय में कहा गया है कि ये राजकुमार थे जो पीछे नालन्दा विश्वविद्यालय में आकर वहाँ के एक धर्माचार्य बन गये थे। ये पहले बहुत बोदे से थे जिस कारण इन्हें प्रायः अपमानित भी होना पड़ता था, किंतु मंजुश्री की कृपा प्राप्त कर ये अन्त में बड़े योग्य पुरुष हो गये।[4]

सिद्ध कान्हूपा के कान्ह, कान्हि, कान्हिल, कृष्णपाद, कृष्ण-पादाचार्य एवं कृष्णाचार्यचरण जैसे अनेक नामभेद पाये जाते हैं और उपलब्ध चर्याओं वाले वर्ण्य विषय तथा इनकी रचना-शैली

---

१. 'बौद्ध गान ओ दोहा' (मुखबन्ध) पृ० १२।

२. 'मिस्टिक टेल्स' पृ० ७७।

३. दे० 'भुञ्जानोऽपि प्रभास्वरः सुप्तोऽपि कुटिंगतोऽपि तदेवेति भुसुकु समाधि-समापन्नत्वा भुसुकु नाम ख्याति सङ्घेऽपि' (हिन्दुस्तानी, पृ० ३७७)।

४. 'टिबेटन हाउस म्यूजियम' (दिल्ली, १९६५ ई०) पृ० ३७।

पर यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो कम-से-कम इस प्रकार अनुमान करने के लिए कुछ-न-कुछ आधार अवश्य मिल जा सकता है कि ऐसे नाम के दो व्यक्तियों का होना असंभव नहीं है। 'कान्हिल' के नाम से पायी जानेवाली चर्या (सं० ३६) के अंतर्गत सिद्ध जालन्धरीपा के प्रति आदरभाव प्रदर्शित किया गया है तथा वहाँ पर एवं अन्यत्र चर्या (सं० ४२) में उसके साथ क्रमशः 'लाङ्ग' और 'जोई' शब्दों के प्रयोग अपने लिए किये गए मिलते हैं। फिर चर्या (सं० १०) में अपने लिए 'कापाली जोई लाङ्ग' जैसे तीन-तीन शब्द प्रयुक्त पाये जाते हैं। काण्हपा के लिए ऐसा प्रसिद्ध भी है कि उनके गुरु जालन्धरीपा थे तथा उनका संबंध पहले कापालिक-संप्रदाय के भी साथ रहा। डा० सेन का अनुमान है कि इन काण्ह के द्वारा ही रची गई चर्याएँ (सं० ११, १८ एवं १९) भी हो सकती हैं और इनके अतिरिक्त बची हुई (सं० ७, ९, १२, १३, २४, ४० एवं ४५) के लिए कहा जा सकता है कि वे किसी अन्य काण्ह की रचनाएँ होंगी।[1] इनमें से प्रथम काण्ह की पंक्तियों में डोंबी, पद्म, खाट, आलि-कालि, रविशशि, ससहर, निर्वाण, सहज, शून, तथता, कान्ध के विशेष रूप में पाये जाने और इसी प्रकार द्वितीय की चर्याओं में आलि-कालि, जिनउर, एवंकार, सहज, तथता, दशवल रअण, निशाण, करुणा, शून, तथागत, महासुह, जिनरअण, गगन शब्दों के प्रयोग मिलने के कारण भी, इस प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। डा० सेन का कहना है कि इन दोनों में से

१. 'चर्यागीति पदावली' (भूमिका) पृ० १२।

प्रथम को जालंधरी का शिष्य मानकर द्वितीय को उसका परवर्ती भी ठहरा सकते हैं। ये दूसरे कण्हपा सिद्ध इन्द्रभूति के शिष्य हो सकते हैं जो संभवतः ओडियान के राजा भी रह चुके थे।[1] लामा तारानाथ ने कृष्णाचारी (काहपा) को तिब्बती परंपरा के आधार पर किसी 'कर्ण' (कदाचित् कन्नड़) नामक प्रदेश में उत्पन्न हुआ कहा है तथा भारतीय परंपरानुसार उनकी जन्मभूमि का 'पाद्यनगर' (विद्यानगर का विजयानगर) होना भी बतलाया है जो दोनों ही उन्हें दक्षिण भारतीय सिद्ध करते हैं।

लामा तारानाथ के अनुसार उनके जन्मस्थान का उड़ीसा प्रान्त में भी होना असंभव नहीं है, क्योंकि स्वयं बुद्ध ने ऐसी भविष्यवाणी की थी जिस बात को प्रामाणिक मान लेना स्वाभाविक हो जाता है।[2] उनके जन्म से ब्राह्मण होने तथा कर्णाटक प्रदेश में जन्म लेने के कारण उनके रंग के काला होने का भी अनुमान किया गया है[3] तथा एक तिब्बती-परंपरा के आधार पर यह भी बतला दिया गया है कि उनके कान लंबे-लंबे भी रहे होंगे। परंतु इस संबंध में यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि सिद्ध कण्हपा के नाम के साथ जो स्पष्ट चित्र, 'टिबेटन हाउस म्यूजियम' वाले १३वें प्लेट के रूप में सुरक्षित है उसमें उनके कानों को लंबा नहीं दिखलाया गया है[4] और न इस प्रकार का कोई चिह्न उस

१. वही, पृ० १३। २. 'मिस्टिक टेल्स' पृ० ३२।
३. 'पुरातत्त्व निबन्धावली' पृ० १५५।
४. दे० उसके विवरण का पृ० ४०-१।

चित्रावली में ही मिलता है जिसे स्व० राहुलजी ने दिया है।[1] कण्हपा के कानों के लंबे-लंबे होने का एक ऐसा कारण भी बतलाया गया है कि उनका जन्म वस्तुतः ब्रह्मा के वीर्य से हुआ था जो किसी हाथी के कान में पड़ गया था और इस बात का प्रभाव स्वयं उसके कानों के आकार पर भी पड़ गया।[2] उनके द्वारा रचे गये 'दोहा कोश' का भी प्रकाशन हो चुका है जिसे देखने पर उनकी प्रतिभा एवं योग्यता का पता चलता है। उनके नाम से ७४ ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें से, संभव है, सभी केवल एक ही कण्हपा की रचनाएँ न सिद्ध की जा सकें। इस प्रकार का अनुमान उन ग्रन्थों के विषय में भी किया जा सकता है जिनकी सूची प्रो० शुजुकी द्वारा जापान से सन् १९५७ ई० में प्रकाशित हुई है तथा जिसके साथ उपर्युक्त सूची की तुलना कर लेने पर उनके नाम उपलब्ध हो सकने वाली सारी रचनाओं की संख्या इस समय तक ९८ भी पहुँच जाती है।[3] सिद्ध काहपा को उनके साथ नामसाम्य रखनेवाले व्यक्ति से भिन्न ठहराते समय यह भी अनुमान किया गया मिलता है कि ये दूसरे योगिसंप्रदाय वा नाथ-संप्रदाय के पुरुष रहे होंगे तथा इनके नाम का रूप संभवतः 'करणिपा' वा 'कनिपा' भी पाया जाता रहा होगा। इसके विपरीत वज्रयानी वा सहजयानी सिद्ध कण्हपा वे रहे होंगे जिन्होंने

---

१. पुरातत्त्व निबन्धावली पृ० ११६-ङ।

२. योगिसांप्रदायाविष्कृति' (१४वाँ अध्याय)।

३. 'विश्वभारती' पत्रिका (सं० ७ अं०३, १९६६ ई०) पृ० २९२।

हेवज्र की दीक्षा ग्रहण की थी और जो फिर किसी डाकिनो द्वारा सहायता पाकर शक्ति-संपन्न हो जाने के अनन्तर सोमपुरी में आचार्यवत् रहने लगे होंगे।

कार्मारिपा का एक अन्य नाम कंबलांबरपा भी पाया जाता है। इनके संबंध में लामा तारानाथ का कहना है कि ये 'उदयान' अथवा किसी-किसी के अनुसार 'ओडिवीश' नामक देश के राज-कुमार थे जो पीछे किसी मठ के आचार्य भी हो गये थे। इनके विषय में उन्होंने अनेक चमत्कार-संबंधी बातें भी बतलायी हैं और, इस प्रकार, यह भी कहा है कि जिस समय डाकिनियों ने इन्हें हानि पहुँचाना चाहा, इन्होंने कंबल का रूप धारण कर लिया जिसके अनंतर भी उन लोगों ने इनके तार-तार नोंचकर खा लिये। फिर भी इनका कुछ बिगड़ न सका और ये अंत में कंबलांबरपाद वा कामरिपा नाम से प्रसिद्ध हो चले।[1] इनके गुरु वज्रघण्टापा बतलाये जाते हैं तथा इन्हें सिद्ध डोंबीपा का समकालीन भी कहा जाता है। इनके लिए कहीं-कहीं यह भी कहा गया मिलता है कि ये किसी 'कङ्कर' नामक नगर वा देश के राज-कुमार थे जिन्होंने अपनी माता के द्वारा चक्रसंबर तन्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी तथा उसी के आधार पर १२ वर्षों तक श्मशान में साधना कर लेने के अनंतर, महामुद्रा की सिद्धि पायी थी।[2] डोंबीपा को मगध का राजा होना कहा गया है जिसके मन्त्रियों

१. मिस्टिक टेल्स पृ० २२-३।

२. टिबेटन हाउस म्युजियम पृ० २८।

ने प्रजा से मिलकर उसे राज्य से बाहर कर दिया था, किंतु जो फिर चामत्कारिक रूप में वहाँ से लौट आये। कहते हैं कि इन्होंने सिद्ध वीणापा के साथ चिन्ता को दीक्षा दी थी। स्व० राहुलजी ने इनके गुरुओं में विरुपा के साथ वीणापा का भी नाम लिया है और इन्हें हेवज्रतंत्र का अनुयायी बतलाया है। उनका यह भी कहना है कि एक डोंबीपा पोछे भी हुए थे जिस कारण यह निर्णय कर पाना कठिन है कि कौन-सी रचना को किसकी कृति ठहरायी जाय और इस प्रकार के कुछ ग्रंथ अपभ्रंश में भी प्राप्त हुए है।[1] इनके अपने राज्य से बाहर किये जाने के कारण पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि इन्होंने किसी अन्त्यज कन्या को अपने यहाँ पत्नीवत् रख लिया था जिससे इनके विरुद्ध सभी लोग हो गये थे। जब ये वहाँ से जंगलों में जाकर साधना करके लौटे तथा इनके राज्यवालों ने दोनों की अग्नि-परीक्षा ले ली तो फिर इनका पूरा स्वागत किया गया।[2] इनकी तथा कामरिपा की भी केवल एक ही एक चर्या संगृहीत की गयी है और इन दोनों का समय भी ९वीं-१०वीं शताब्दी जान पड़ता है।

सिद्ध शान्तिपा के नाम से दो चर्याएँ मिलती हैं और इन्हें प्रसिद्ध आचार्य रत्नाकर शान्ति से अभिन्न भी ठहराया गया है। लामा तारानाथ के अनुसार इनका जन्म, मगध देश के अंतर्गत किसी ब्राह्मण कुल में हुआ था, यद्यपि उन्होंने यह भी कहा है

१. पुरातत्त्व निबन्धावली पृ० ५१।
२. टिबेट हाउस म्यूजियम पृ० ३४।

कि किसी-किसी ने इनका जन्म से क्षत्रिय होना भी बतलाया है। पीछे समय पाकर इन्होंने अनेक महान् ग्रंथों का अध्ययन और मनन किया तथा कुछ दिनों तक ये भ्रमण भी करते रहे। ये सोमपुरी के महंत भी बहुत दिनों तक रह चुके थे।[1] विक्रमशील विश्वविद्यालय में जाने पर इन्हें सिद्ध नारोपा के संपर्क में आने का अवसर मिला था। ये कुछ दिनों के लिए मालवा भी गये थे जहाँ से वापस आने पर इन्हें सिंहल देश के राजा का निमंत्रण मिला और ये वहाँ भी ६ वर्षों तक रहते रहे। ये महान् पण्डित और आचार्य थे और ये उक्त विक्रमशील में कुछ दिनों तक अध्यापन-कार्य भी करते रहे। अपनी विद्वत्ता एवं बहुज्ञता के ही आधार पर ये 'कलिकाल-सर्वज्ञ' तक भी कहलाये।[2] इनके शिष्यों में एक कुठालिपा भी थे जिन्हें इन्होंने सिंहल वाली अपनी यात्रा के समय, कहीं मार्ग में ही दीक्षित किया था। इनका आविर्भाव-काल साधारणतः १०वीं शताब्दी स्वीकार किया जाता है तथा इनके ग्रंथों में अनेक दार्शनिक भी बतलाये जाते हैं। किसी शान्तिपा वाले चर्यापद का एक नाडपाद द्वारा उद्धृत किये गये अंश,

'उइयइ रे भुसुकु-तारा
शान्ति भणइ पोहान्तपहारा।[3]

की ओर संकेत करते हुए डा० सेन ने अनुमान किया है कि कोई

१. 'मिस्टिक टेल्स' पृ० ४७-८।
२. 'पुरातत्त्व निबन्धावली' पृ० १६२-३।
३. 'ओल्ड बेङ्गाली टेक्स्ट्स', चर्या ६८ पृ० ३५।

एक अन्य शान्तिपा भी रहे होंगे जो संभवतः भुसुकुपा के शिष्य थे, किंतु उनके विषय में हमें कुछ पता नहीं है।[1]

सिद्ध महीपा (महिंडा वा महित्ता) के नाम से केवल एक चर्या (सं० १६) मिलती है और इन्हें महिल भी कहा गया है। तिब्बती परंपरा के अनुसार इन्हें सिद्ध महीपाद के नाम से आचार्य कण्हपा का वंशधर कहा गया है। इसके नाम वाली प्रस्तुत चर्या को डा० सेन ने इनके किसी शिष्य की रचना कहा है, क्योंकि यहाँ पर 'भणन्ति' जैसे आदरसूचक शब्द का प्रयोग है। इनकी इस रचना को उन्होंने सिद्धपा वाली चर्या (सं० ९) के साथ 'गंभीर भावसाम्य' रखने वाली भी समझा है।[2] कहते हैं कि इनका जन्म मगध देश के किसी शूद्र कुल में हुआ था और इन्हें गृहस्थ होते हुए भी सत्संग की प्रबल चाह रही।[3] इनके अनंतर संगृहीत चर्या के अनुसार सर्वप्रथम आनेवाली वीणापा को भी तिब्बती परंपरानुसार विरुपा का शिष्य बतलाया गया है, किंतु स्व० राहुल जी इन्हें सिद्ध भद्रपा का शिष्य कहते हैं जो भादेपा नाम से भी प्रसिद्ध है। इस दूसरे मत का एक समर्थन अन्यत्र भी हो जाता जान पड़ता है जहाँ पर कहा गया है कि इनके तांत्रिक गुरु भादेपा ने जब इनसे पूछा कि क्या तुम शाश्वत आनंद की अभिलाषा करते हो तो इन्होंने उत्तर दिया "यदि मुझे अपना

१. 'चर्यागीति पदावली' पृ० ११।
२. 'चर्यागीति पदावली' पृ० १४।
३. पुरातत्त्व निबन्धावली पृ० १५९।

वीणा-वादन छोड़ना न पड़े तो उसे क्यों नहीं चाहूँगा'' जिस पर इनके उक्त गुरु ने इनसे कह दिया कि नहीं ऐसा नहीं करना पड़ेगा।[1] ये गौड़ देश के राजकुमार थे और इन्हें संगीतशास्त्र एवं विशेषकर वीणा के बजाने की बड़ी लगन थी। इन्होंने अपनी चर्या के अंतर्गत भी किसी एक विचित्र 'हेरुक वीणा' का ही रूपक बाँधा है जिससे शून्य की शान्ति-ध्वनि उद्भूत हुआ करती है। जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है ये सिद्ध डोंबीपा के समकालीन समझे जाते हैं।

सिद्ध सरहपा का महत्त्व विशेषकर इसलिए और भी बढ़ जाता है कि इन्हें एक परंपरानुसार आदिसिद्ध कहा जाता आया है। स्व० राहुल जी ने जिन्हें इस मत की प्रामाणिकता में पूर्ण विश्वास रहा इन्हें पूर्व दिशा के 'राज्ञी' नामक नगर में उत्पन्न हुआ कहा है, इस 'राज्ञी' की भी स्थिति के वे भंगल (भागलपुर) और पुंड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल) में से कहीं स्वीकार करते जान पड़ते हैं। वे यह भी कहते हैं कि इनका जन्म किसी ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनका कुल ब्राह्मणधर्मी था अथवा बौद्ध इस बात का उन्हें भी पता नहीं, किंतु वे इतना अवश्य कहते हैं कि सरह को सिद्ध एवं योगीश्वर दोनों कहने के साथ 'महान् ब्राह्मण' भी कहा गया है और वह भी संभवतः इस कारण कि इनमें 'धम्मपद' में वर्णित ब्राह्मगुणों का प्राचुर्य रहा। जाति पर आधारित ब्राह्मणवाद की तो इन्होंने अपने

१. 'टिबेट हाउस म्यूजियम' पृ० ३०।

'दोहाकोश' के अंतर्गत खुल कर आलोचना की है। कहा जाता है कि सरहपा नाम से प्रसिद्ध हो चलने के पहले इनका नाम 'सरोज' (सरोरुह) वज्र एवं 'राहुल भद्र' जैसा रहा होगा। इन्हें नालंदा में शिक्षा मिली थी जहाँ पर इनके अध्यापक हरिभद्र थे जो सम्राट् के निमंत्रण पर तिब्बत गये शान्तरक्षित के शिष्य थे। उक्त हरिभद्र राजा धर्मपाल (सन् ७७०-८१५ ई०) के समय वर्त्तमान थे और चूँकि सरहपा के शिष्य शबरपा के शिष्य लुईपा धर्मपाल के यहाँ कायस्थ वा लिपिक रूप में काम किया था, इस कारण, यह संभव है कि उक्त सन् ८१५ ई० के पहले ये (सरह) मर भी चुके हों। राहुलभद्र ने नालंदा में अध्यापन-कार्य किया होगा तथा उन दिनों कतिपय संस्कृत-रचनाएँ भी निर्मित की होंगी। सरहपा ने फिर नालंदा का त्याग कर दिया और साधना की ओर झुक पड़े। तदनुसार इन्होंने किसी 'शरकार' (बाण बनाने वाले) की कन्या को अपने साथ रख लिया और स्वयं भी सरकंडों के शर बनाने में प्रवृत्त हो गये जिससे पीछे 'सरहपा' कहलाये। इन्होंने फिर नालंदा से लेकर श्रीपर्वत तक वाले सारे भूखंड की यात्रा भी की तथा ध्यान के साथ करुणा के संयोग पर बल देते हुए इन्होंने अपने मत के प्रचार का भी यत्न किया था। इनकी सारी रचनाओं की संख्या के स्व० राहुल जी ने १६ तक होने का अनुमान किया है तथा उन्होंने इनकी सात टीकाओं के भी नाम दिये हैं। उनका कहना है कि इनका 'दोहाकोश' उन सप्त कोशों में से एक है जिनमें लुईपा, विरुपा, कण्हपा एवं तिलोपा

के भी कोश आ जाते हैं।[1] यहाँ पर संगृहीत इनकी चर्याओं की संख्या ४ है जिनमें डा० सेन के अनुसार तांत्रिक साधना से अधिक योग-साधना को महत्त्व मिला है। उनका कहना है कि इनके 'दोहाकोश' की पुरानी प्रतियों का १२ वीं शताब्दी से पहले ही लोप होना आरंभ हो गया था। किसी दिवाकरचंद ने इनके दोहों का संकलन करना चाहा तथा संभवतः उसमें उन्होंने कुछ अपने भी मिला दिये उन संकलनकार का कहना है,

जोहि विणट्ठ पणट्ठ पउ जोहि अत्थ वुत्त
सरहपाऊ किअ दोह तिउ सो संगहिओ एत्थ[2]

जिसके द्वारा इनके रचना-संग्रहों का कुछ अनुमान किया जा सकता है। लामा तारानाथ ने दो सरह का उल्लेख किया है और इनमें से एक को शबरीपा से अभिन्न माना है।[3] परंतु, यह भी संभव है कि शबरीपा को सरहपा का शिष्य बतलाने के नाते कभी-कभी 'लघु 'सरह कहने की परिपाटी चल निकली हो।

सरहपा शिष्य तथा लुइपा के गुरु शबरपा की चर्चा हम अभी कर आये हैं। 'शबरपा' नाम के भी कई सिद्धों के होने का पता चलता है। इनमें से एक के संबंध में यह भी कहा जाता है कि उसका सप का विष उतारने में भी कदाचित्, कभी-कभी नाम लिया जाता था। संगृहीत दो चर्याओं (अर्थात् २८वीं और ५०वीं)

१. 'दोहाकोश' (सं० राहुल सांकृत्यायन) भूमिका भाग, पृ० ९-१८।
२. 'चर्यागीति पदावली' पृ० १५-६।
३. 'मिस्टिक टेल्स' पृ० १९।

के रचयिता इनमें से कौन थे इसका निर्णय कर पाना सरल नहीं है। लामा तारानाथ से पता चलता है कि सरह शिष्य तथा लुई के गुरु शबरपा के गुरु कोई नागार्जुन भी रहे होंगे जिनके आदेश से वे श्रीपर्वत पर जाकर निवास करने लगे थे तथा वहीं साधना भी करते रहे। इनका मूल संबंध किसी नट जाति के साथ रहा होगा, किंतु ये शबरों[1] के ढंग से रहा करते थे। इनकी जो दो महामुद्राओं के नाम डाकिनी पद्मावती एवं ज्ञानावती दिये गये मिलते हैं वे

---

१. शबर भारतवासी आदिम असभ्य जाति समझे जाते हैं जो उड़ीसा और मध्यप्रदेश के वन प्रान्तर में आज भी निवास करते हैं। ये बन की लकड़ी आदि बेचकर जीविकोपार्जन करते हैं। ये किसी प्रकार के शिल्प-वाणिज्य अथवा वस्त्र-वयन कार्य की उपेक्षा करते हैं। इनकी एक शाखा अपने को सोमवंशी आर्य बतलाती है। उड़ीसा क्षेत्र में इन्हें 'पर्णशबर' कहते हैं। ये लोग अत्यन्त दुर्द्धर्ष और जंगली स्वभाव के होते हैं। ये आज भी वस्त्र-धारण नहीं करते, पत्रादि द्वारा अपना शरीर ढकते हैं। ग्वालियर राज्य के शबर कोटा के निकटवर्ती जंगलों तक में फैले हुए हैं। पश्चिम में मारवाड़ से लेकर गुना तक में निवास करते हैं। दक्षिण भारत के पूर्वी घाट के पर्वत माला के शूयर वा शूरा नामक अर्द्धसभ्य जंगली जातियों की गणना शबरों में की जाती है। इन्हें सभ्य जातियाँ चेञ्चू कूलम्, चेञ्चवार और चेन शूयर नामों द्वारा अभिहित करती हैं। ये कृष्णा और पेन्नार नदी के मध्यवर्ती नल्लमलय तथा लंकामलय नामक स्थानों में निवास करते हैं। ये मूर्तिपूजक नहीं हैं। बड़े-बड़े कुत्ता पालते हैं। इनमें बहु-विवाह-प्रथा प्रचलित है। ये शवदाह-क्रिया करते हैं, किंतु कभी-कभी मृतक की समाधि

वस्तुतः इनकी दो निजी बहनों के ही नाम कहे जाते हैं।[1] इनके लिए अन्यत्र यह भी कहा गया है कि ये अपने प्रारंभिक जीवन में बहुत बड़े शिकारी थे, किंतु स्वयं अवलोकितेश्वर ने आकर इन्हें ऐसे पापों से बचाया।[2] इनके नामवाले १६ ग्रंथों के तन्जूर में पाये जाने के विषय में कहा गया मिलता है, किंतु उनमें से कौन किस शबर का है इसका पता नहीं। इनकी उक्त दोनों ही चर्याओं में इनके प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन की योग्यता का पता चलता है। इनका संबंध 'शबर मंत्र' से भी जोड़ा जाता है यद्यपि इसके लिए पुष्टतर प्रमाण की अपेक्षा है।

के अवसर पर उसका तीर-धनुष आदि भी उसके साथ रख देते हैं। इनका प्राचीन सन्दर्भ 'ऐतरेय ब्राह्मण' (७ । १८) द्वारा इन्हें ऋषि विश्वामित्र की संतान का अभिशप्त वंशधर सूचित किया गया है। 'सांख्यायन श्रौत सूत्र' (१५ । २६ । ६) और 'महाभारत' के आदि, भीष्म, शान्ति और अनुशासन पर्वों में इनका उल्लेख पाया जाता है। इन्हें कहीं-कहीं 'मध्यदेश वहिष्कृत' भी बतलाया गया है। 'भागवत' (२ । ७ । ४६) में इन्हें पापजीवी कहा है। कहा जाता है कि इन्होंने किसी समय जगन्नाथ देव की रक्षा की थी। वाक्पति के 'गौड़वहो' से पता चलता है कि ईसा की आठवीं शताब्दी में ये विन्ध्यवासिनी की पूजा नर-बलि द्वारा किया करते थे।

—श्रीनगेन्द्रनाथ वसु : विश्वकोश
बंगला संस्करण, २०वाँ भाग पृ० १८८-८९।

१. मिस्टिक टेल्स पृ० १८-९।
२. टिबेट हाउस म्यूजियम पृ० २८।

कहा जाता है कि मंत्र-रचना करते समय शब्दों को शक्ति संपन्न किया जाता है। वैदिक मंत्रों को ब्रह्मा ने शक्तिशाली बनाया और तांत्रिक मंत्रों को शिव ने शक्ति प्रदान की। कलियुग में यह रचना मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य और गोरक्षनाथ के गुरुभाई शबरनाथ द्वारा की गयी। जिस समय बौद्धों और तांत्रिकों के प्रभाव से लोग वैदिक मत्रों को भूलने लगे थे, उस समय शबरनाथ ने लोक-कल्याण के निमित्त अनेक मंत्रों की रचना की, जिनका प्रचलन नीच जाति और अनपढ़ लोगों के बीच हुआ। यही मंत्र शाबर मंत्र कहलाकर प्रसिद्ध हुए।

परन्तु शाबर मंत्रों में जिन सिद्धिदायकों का उल्लेख मिलता है वह इस प्रकार है,

नागार्जुनो जडभरतो हरिश्चन्द्रस्तृतीयकः।
सत्यनाथो भीमनाथो गोरक्षश्चर्यटस्तथा॥
अवघटश्चैव वैरागी कंथाधारिजलंधरः।
मार्गप्रवर्तका ह्येते तद्वच्च मल्यार्जुनः॥
एतदुक्तं शाबराणां मन्त्राणां सिद्धिदायकाः।

इससे पता चलता है कि शाबर मंत्र के रचयिता शबर नही हैं। शाबर मंत्रों में गोरक्ष यति का उल्लेख मिलता है और आज भी गोरक्ष-संप्रदाय के योगियों और संपेरों में शाबर मंत्र का अधिक प्रचलन हैं।

चर्या (सं० ३१) के रचयिता आजदेव (आर्यदेव) का एक अन्य नाम काणेरी (कर्णरी) भी बतलाया जाता है जो नागार्जुन

के शिष्य थे, इनके नाम से किसी 'काणेरी' गीतिका के पाये जाने की चर्चा स्व० शास्त्री ने की है तथा इनका अन्य नाम वैरागीनाथ भी दिया है।[1] लामा तारानाथ के अनुसार ये कोई मेवाड़नरेश थे जिनकी पत्नी पिंगला अत्यंत सुन्दरी थी जिसे वे बहुत चाहते भी थे। किसी समय, उसकी मृत्यु के हो जाने पर जब ये बहुत दुखी थे तो इन्हें सिद्ध गोरक्षपा ने आकर आत्महत्या करने से बचाया तथा इनमें वैराग्यभाव का संचार किया जिस कारण ये वैराग्यनाथ भी कहलाये[2]। इस प्रसंग का वर्णन नाथ-साहित्य में भी किया गया मिलता है। ढेण्ढणपा नामक सिद्ध जिनके नाम चर्या (सं० ३३) में पाये जाते हैं स्व० शास्त्री के अनुसार 'धेतन' भी कहे जाते थे। डा० सेन का अनुमान है कि इनकी उक्त चर्या इनके किसी शिष्य की भी हो सकती है। इनकी इस चर्या के पढ़ते समय हमें संत कबीर के भी एक पद का स्मरण हो आता है जिसके कुछ अंश इसके साथ हूबहू मिल जाते जान पड़ते हैं।[3]

दारिकपा के लिए कहा गया है कि ये अपने प्रारंभिक जीवन में ओडीसा के कोई राजा थे जहाँ पर एक बार लुईपा के जाने पर ये तथा इनके मंत्री (जो पीछे 'डेंगीपा' नाम से प्रसिद्ध हुए) उनके शिष्य बन गये। इन्होंने अपने गुरु के आदेश द्वारा कांची-पुरी की किसी दारिका अर्थात् वेश्या की सेवा की थी और इसमें

---

१. 'बौद्ध गान ओ दोहा' मुखबन्ध पृ० ३०।

२. 'मिस्टिक टेल्स' पृ० ५८-९।

३. 'कबीर-ग्रंथावली' पद ८०, पृ० ११३।

अपना बहुत समय लगाया था जिस कारण ये फिर दारिकपा कहलाये। वज्रघंटापा को इनका शिष्य कहा गया मिलता है तथा इनके तीन ग्रंथों का भी पता चलता है।[1] इन्होंने अपनी चर्या में अपने गुरु लुईपा का नाम भी लिया है और उन्हीं की भाँति उसमें अपना नाम भी दिया है। इनमें तांत्रिकता उतनी नहीं प्रतीत होती। जहाँ तक ३५वीं चर्या के रचयिता भादेपा के संबंध में कहा जा सकता है तिब्बती में इनके नाम 'भद्रचंद्र' और 'भद्रबोधि' के रूपों में भी मिलते हैं। लामा तारानाथ ने भादेपा (भादल) का जालंधरि एवं कण्हपा अर्थात् दोनों का ही शिष्य होना बतलाया है। इन्होंने भद्रपा वा भादेपा का एक नाम 'गुह्य' भी कहा है तथा इस नाम से इनकी प्रसिद्धि होने का भी उल्लेख किया है।[2] इनके जन्मस्थान के विषय में कहा गया है कि ये श्रावस्ती (सहेट-महेट, जि० गोंडा) में उत्पन्न हुए थे तथा इनका कुल देव-लेखक (चित्रकार) का था।[3] इनके किसी मणिधर नामक देश में जन्म लेने की भी चर्चा की जाती है, किंतु इसके लिए किसी आधार का पता नहीं चलता।[4]

'ताड़क' जैसे किसी नाम का बौद्ध सिद्धों की किसी सूची में

---

१. 'पुरातत्त्व निबंधावली' पृ० १४८।

२. 'मिस्टिक टेल्स' पृ० ३२-३।

३. 'पुरातत्त्व ग्रंथावली' पृ० १५९।

४. डा० धर्मवीर भारती: 'सिद्ध-साहित्य' (किताब महल, इलाहाबाद) पृ० ५६।

अभी तक पाया नहीं जा सका है जिस कारण डा० सेन का अनुमान है कि यह संभवतः किसी का 'छद्मनाम किंवा उपाधि' का सूचक ठहराया जा सकता है। 'ताड़क' को वे 'ताटङ्क' का विकृत रूप भी मानते है।[1] उधर स्व० राहुल जी का कहना है कि ये 'ताड़क पाद', 'नाडक पाद' ही मालूम होते हैं[2] जिन्हें साधारणतः नारोपा भी कहा जाता है। किंतु डा० बागची द्वारा प्रकाशित इनकी चर्या के तिब्बती अनुवाद में भी हमें 'ताड़क' (Tā-da-ka) ही दिया गया मिलता है[3] जिस कारण, उक्त प्रकार किये गये अनुमान के संबंध में, सन्देह किया जा सकता है। इनके ठीक-ठीक समय का कुछ पता नहीं। 'कङ्कणपा' नाम को भी डा० सेन ने 'छद्म' ही मान लिया है अथवा इसे उपाधिसूचक मात्र समझा है। परंतु कङ्कणपा (कङ्कपा) का अन्यत्र किसी विष्णुनगर का एक ऐश्वर्यवान् राजा होना बतलाया है जिसे किसी योगी ने शिक्षा प्रदान की थी। उस योगी ने इन्हें परामर्श दिया था कि अपनी अंगूठी वाले हीरे की तड़क-भड़क की ओर एक बार पूर्णरूप से आकृष्ट हो जाओ और तत्पश्चात् उसके प्रति अपने अनासक्ति-भाव का भी अनुभव करो। फिर इन दोनों प्रकार की चित्तवृत्तियों पर चिंतन करो तथा इन्हें एक साथ मिलाकर उसके अनुसार अपनी प्रवृत्ति के निर्माण की चेष्टा करो। इस प्रकार, छह महीने ध्यान करने

2456

१. 'चर्यागीति पदावली' (भूमिका) पृ० १८।
२. 'पुरातत्त्व निबंधावली' पृ० १६२।
३. 'मैटीरियल्स' आदि पृ० ८१।

पर ही इन्हें सत्य का बोध हो गया और ये तदनन्तर अनेक वर्षों तक इसके आधार पर उपदेश देते रहे तथा इन्होंने निर्वाण भी पा लिया।[1] स्व० राहुलजी ने उक्त विष्णुनगर के कहीं बिहार प्रदेश में होने की संभावना प्रकट की है तथा कङ्कण का कंबल के परिवार का होना भी कहा है[2] जिसकी पुष्टि अनेक अन्य स्थलों से भी हो जाती जान पड़ती है।

जयनंदी को स्व० राहुलजी ने 'जयानंतपाद' जैसा नाम दिया है और इन्हें भंगल (भागलपुर) के राजा का मंत्री भी बतलाया है। इन्हें उन्होंने जन्मतः ब्राह्मण भी कहा है, किंतु इसके साथ ही उन्होंने किसी अन्य जयानंत का कश्मीरी होना भी ठहराया है।[3] एक अन्य स्थल पर ये बंगाल के किसी राजा के ऐसे ब्राह्मण मंत्री बतलाये गये हैं जो गुप्त रूप से तंत्र-साधना करता था। उसके अन्य मंत्रियों द्वारा इस बात की चर्चा करने पर जयनंदी को कारावास दिया गया जिस पर कौओं ने प्रदर्शन किया और ये सभी को चोंचों से ठोकर मारने लगे जिस पर किसी के सुझाव देने देने पर इन्हें मुक्त कर दिया गया।[4] परंतु हमें इनकी किसी गुरु-परंपरा अथवा शिष्य-परंपरा का कुछ भी पता नहीं चलता और न इनके जीवन-काल का ही ज्ञान हो पाता है। ४४वीं चर्या के

---

१. 'टिबेट हाउस म्यूजियम' पृ० ३४।
२. पुरातत्त्व निबंधावली' पृ० १६०।
३. 'पुरातत्त्व निबंधावली' पृ० १६०।
४. 'टिबेट हाउस म्यूजियम' पृ० ४०।

रचयिता धामपा की चर्चा डा० सेन ने चाटिल का परिचय देते समय ही कर दी है और उन्होंने इन दोनों के बीच किसी गुरु-शिष्य संबंध के होने की भी कल्पना की है[1] जिस बात का समर्थन कहीं अन्यत्र होता नहीं जान पड़ता। इनका एक परिचय अन्यत्र इस रूप में दिया गया पाया जाता है कि ये किसी विक्रम सूर के ब्राह्मण पंडित रहे, किंतु ये जिन बातों का अध्ययन किया करते थे वे कभी इनकी स्मृति में नहीं रह पाती थीं। अतएव इनके किसी गुरु ने बतलाया कि जिस प्रकार कोई स्वर्णकार बहुमूल्य धातुओं को गलाकर उन्हें एक रूप में ला दिया करता है उसी प्रकार उन सारी बातों को, जिनका तुम अध्ययन करते हो, एक साथ पचाकर उन्हें एक रूप दे डालो। इसके अनुसार इन्हें पूरी सफलता मिल गयी और इन्होंने महामुद्रा की सिद्धि प्राप्त करके तदनन्तर अपने जीवन में निर्वाण की भी उपलब्धि कर ली।[2]

सिद्ध तंतिपा की चर्या (सं० २३) स्व० शास्त्री को पूरी नहीं मिल पायी थी और उसे डा० बागची ने पीछे खोज निकाला। इन्हें स्व० राहुलजी ने मालव देश वाले उज्जैन नगर का कोरी (तंतुवाय वा तँतवा) बतलाया है और कहा है कि पहले सिद्ध जालंधरी से दीक्षा ग्रहण कर लेने के अनंतर ये फिर सिद्ध कण्हपा के भी शिष्य हो गये थे।[3] इन तंतिपा का नाम सिद्धों की सूची

१. 'चर्यागीति पदावली' पृ० १०।
२. 'टिबेट हाउस म्यूजियम' पृ० ३६।
३. 'पुरातत्त्व निबंधावली' पृ० १५८।

के अंतर्गत हमें तेतीसवें स्थान पर मिलता है, जहाँ पर इसे अन्यत्र 'तंधेपा' रूप में भी दिया गया है। इसके सिवाय वहाँ पर इस नाम वाले के विषय में यह भी कहा गया था कि ये कौशांबी के रहनेवाले जुआड़ी थे जो बड़ी असावधानी के साथ जुआ खेलते रहे तथा जिन्होंने इसी कारण अपनी सारी संपत्ति खोयी। परंतु जब किसी योगी ने इन्हें 'धर्म' स्वीकार कर लेने की सलाह दी तो इन्होंने उससे कहा कि यदि मुझे अपना खेल न छोड़ना पड़े तो मैं ऐसा कर सकता हूँ, जिस बात की स्वीकृति प्रदान करते हुए उस योगी ने इन्हें कुछ उपदेश भी दिये। उसने इनसे यह कहा कि "मान लो कि यह सारा लोक ही तुम्हारे पाकेट के समान खाली है और फिर तुम यह भी कल्पना कर लो कि तुम्हारा चित्त भी उसी प्रकार खाली है जिस प्रकार तीनों ही लोक खाली हैं।" इन्होंने इस प्रकार ध्यान करके निर्वाण पा लिया।[1] तंतिपा के विषय में अन्यत्र कहा गया मिलता है कि ये किसी 'सोंधो नगर' के कोरी (तँतवा) थे जिन्हें इनके परिवार वालों ने इनकी वृद्धावस्था में उपेक्षित कर दिया था, किंतु जिनकी ओर आकृष्ट होकर सिद्ध जालंधरीपा ने, इन्हें हेवज्र की साधना का उपदेश दिया और इन्होंने उसका १२ वर्षों तक अभ्यास करके फिर अंत में, सिद्धत्व की दशा प्राप्त कर ली।[2]

---

१. 'टिबेट हाउस म्यूजियम' पृ० ३५।

२. एडवर्ड कांजे: 'बुद्धिष्ट टेक्स्ट्सथ्रू द एजेज' (न्यूयार्क १९६४ ई०) पृ० २५५-७।

दार्शनिक और धार्मिक स्वरूप

प्रस्तुत चर्यागीतियों के रचयिता सिद्धों के विषय में विचार करते समय हमारे ध्यान का सर्वप्रथम, इस बात की ओर चला जाना स्वाभाविक है कि न केवल इनका आविर्भाव-काल ही संभवतः ८वीं ९वीं से लेकर ११वीं १२वीं शताब्दी तक अर्थात् लगभग ४ शताब्दियों तक की अवधि में व्यापक रहा, अपितु इनमें से कुछ के मूल स्थानों के इस देश वाले विभिन्न सुदूर प्रदेशों में पाये जाने के कारण, इनका कार्य-क्षेत्र भी कम विस्तृत नहीं कहा जा सकता था। इसके सिवाय, यदि इन सभी वाले विभिन्न आम्नायों अथवा इनकी गुरु-परंपराओं की ओर ध्यान दिया जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि इन्हें ठीक एक ही प्रकार की दीक्षा भी कदाचित् नहीं मिली होगी, क्योंकि इनमें से कुछ लोगों ने जहाँ अपने को ठेठ वज्रयानी रूप में दर्शाया है, वहाँ दूसरों की रचनाओं से प्रकट होता है कि उनका झुकाव-न्यूनाधिक योगि संप्रदाय, कापालिक संप्रदाय अथवा ऐसे अन्य धार्मिक वर्गों की ओर भी रहा होगा। तदनुसार इसके परिणाम स्वरूप, इतना और भी अनुमान किया जा सकता है कि इनकी विचार-धाराओं में किसी-न-किसी प्रकार के मतभेदों का आ जाना भी असंभव न था तथा इस दृष्टि से ये एक दूसरे से कुछ भिन्न भी समझे जा सकते थे। इनके लिए ऐसा मान लेना तक भी तर्क-विरुद्ध नहीं कहा जा

सकता कि इन सभी के दार्शनिक मतों में कुछ-न-कुछ अंतर अवश्य रहा होगा। अथवा इनकी साधना-प्रणाली के भीतर कुछ-न-कुछ विभिन्नता का पाया जाना भी संभव हो सकता था।

फिर भी इसमें संदेह नहीं कि इन सभी के मतों का मूलाधार तत्त्वतः बौद्धधर्म द्वारा प्रभावित रहा। इसी कारण, इन्हें साधारणतः 'बौद्धसिद्ध' जैसा एक सांप्रदायिक नाम दे डालने की प्रवृत्ति भी देखी जाती आयी है। इनके द्वारा यहाँ पर व्यक्त किये गए भावों में यदि किसी प्रकार का अंतर आ गया लक्षित होता है तो वह केवल कुछ साधारण बातों में ही पाया जा सकता है। उदाहरण के लिए इन रचनाओं के अंतर्गत प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के प्रायः विभिन्न रूपों में दीख पड़ने का प्रश्न विशेष महत्त्व नहीं रखता। इस बात का समाधान इन सिद्धों के एक दूसरे से अधिक प्राचीन तथा इसी प्रकार अर्वाचीन मानकर भी किया जा सकता है। इसके लिए ऐसा अनुमान कर लिया जा सकता है कि उक्त प्रकार के शब्दों वाले प्रयोग संभवतः वज्रयान, सहज-यान, आदि संबंधी विचार-धाराओं के क्रमिक विकास का स्वाभाविक अनुसरण करते समय संभव हो गये होंगे। जहाँ तक इनमें से पूर्ववर्ती सिद्धों की चर्याओं के विषय में कहा जा सकता है उनमें वैसे पारिभाषिक शब्द अपेक्षाकृत कम पाये जाते हैं, किंतु परवर्ती कवियों की वैसी कृतियों में कभी-कभी उनकी भरमार तक भी हो गयी जान पड़ती है। डा० सेन ने ऐसी बातों के आधार पर कतिपय सिद्धों के ठेठ तांत्रिक होने अथवा न होने का अनुमान किया

है तथा अन्य अनेक के विषय में अपनी धारणा व्यक्त करते हुए बतलाया है कि वे कुछ-न-कुछ परंपरागत योग-साधना अथवा किसी-न-किसी प्रचलित संप्रदाय-विशेष द्वारा प्रभावित हो गये होंगे जिस बात की संभावना में विश्वास कर लेना कदाचित् अनुचित भी न होगा।

उपलब्ध चर्याओं की रचना का उद्देश्य प्रमुखतः दार्शनिक मात्र नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि जितना ध्यान यहाँ किसी सिद्धांत-विशेष के प्रतिपादन के ऊपर दिया गया नहीं मिलता उससे कहीं अधिक चर्चा यहाँ सांप्रदायिक आचरण की पायी जाती है। दार्शनिक मत का विवेचन जहाँ कहीं-कहीं केवल प्रासंगिक रूप में ही कर दिया गया जान पड़ता है, वहाँ साधनाओं अथवा उनके द्वारा उपलब्ध अनुभूतियों के वर्णन को बहुत कुछ प्रधानता तक दे दी गयी दीख पड़ती है। इसके सिवाय यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि इन सभी रचनाओं वाले सिद्ध कवि सर्वत्र एक समान इस प्रकार की चेष्टा करते हुए भी नहीं पाये जाते तथा जो ऐसा करते हैं वे भी अधिकतर पूर्ववर्ती ठहराये जा सकते हैं जिनमें सरहपा, लुईपा, कण्हपा, भुसुकुपा आदि प्रमुख है। इतना ही नहीं, जिन दार्शनिक बातों का उल्लेख यहाँ पर किसी-न-किसी रूप में किया गया दीखता है उनका भी संबंध या तो विशेष कर शून्यवाद के साथ जोड़ा जा सकता है अथवा ये वे हैं जो योगाचार से संबद्ध कही जा सकती है। परंतु, फिर भी हमें ऐसे स्थल बहुत कम ही मिल सकते हैं, जहाँ इन दोनों के बीच

कोई स्पष्ट भेदपरक रेखा खींची जा सके जिसका एक कारण यह भी हो सकता है कि इन सिद्ध कवियों का अपना लक्ष्य कभी किसी शास्त्रीय विवेचन का नहीं रहा।

इन चर्याओं में से सर्वप्रथम के ही अंतर्गत हमें अपने सामने की वस्तुस्थिति का परिचय दिलाया जाता दीख पड़ता है। इसमें सिद्ध लुईपा कहते हैं कि "हमारा अपना शरीर किसी ऐसे सुंदर वृक्ष-विशेष के समान हैं जिसकी पाँच शाखाएँ, पंच स्कंधों अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान के रूपों में पायी जाती है, किंतु अपने चंचल चित्त के कारण यहाँ पर काल प्रवेश कर जाता है। अतएव, सुख-दुःख के झमेले में पड़ कर मरण की दशा को प्राप्त कर लेना निश्चित है जिस बात को भलीभाँति समझ लेना चाहिए तथा इस प्रकार गुरु से उपदेश ग्रहण करके 'महासुख' की ओर उन्मुख हो जाना ही श्रेयस्कर है।" यह महासुख वाली दशा उस अंतिम साध्य से भिन्न नहीं जिसे बौद्ध धर्म में पहले पहल 'निर्वाण' कहा गया था तथा जिसकी अनिर्वचनीयता के कारण उसे शून्यवाद के अनुसार किसी विचित्र 'शून्य' का नाम भी दे दिया गया था। योगाचार वा विज्ञानवाद की दार्शनिक दृष्टि से फिर उसी को 'विज्ञप्तिमात्र' के रूप में कल्पित किया गया जिसे अंत में 'महासुख' जैसी संज्ञा भी प्रदान कर दी गयी। अतएव, सिद्ध लुईपा ने भी इसे प्राप्त करने के लिए सारे प्रपंचों की ओर से चित्त को हटाकर उसे शून्य पक्ष में लगाने का ही उपदेश दिया है। ये कहते हैं कि मैंने ऐसा स्वयं करके देख लिया है और अब पूरक

एवं रेचक दोनों के मध्यवर्ती कुंभक वाली स्थिति में आ चुका हूँ।[1] इन्होंने ऐसी अवस्था पर प्रकाश डालते समय अन्यत्र इस प्रकार कहा है कि "इसे वास्तव में, न तो 'भाव' कह सकते हैं न 'अभाव' ही ठहरा सकते हैं जिस कारण इसमें किसी को विश्वास भी नहीं हो पाता है। भला जिसका कोई वर्ण वा चिह्न रूप नहीं उसकी व्याख्या किसी आगम वा वेद की सहायता से की ही कैसे जा सकती है ? यह विज्ञान, वास्तव में, दुर्लक्ष्य वा अनुभव के लिए कठिन है"।[2]

इसी प्रकार, दृश्यमान जगत् की वास्तविक अनस्थिरता अथवा प्रवाहमयता का परिचय देते समय, सिद्ध भुसुकुपा ने एक स्थल पर उसे "अनुत्पन्न एवं केवल प्रतिभासित मात्र बतलाया है" और कहा है कि "जिस प्रकार कोई व्यक्ति रज्जु को सर्प के रूप में कल्पित करके चौंक पड़ता है यद्यपि यह उसे काटने का कोई उपक्रम तक भी नहीं करता, उसी प्रकार उन अनभिज्ञ लोगों की भी दशा होती है जो वस्तुस्थिति के समझ लेने की चेष्टा न करके

---

१. काआ तरुवर पच विडाल। चंचल चीए पइठो काल॥
दिढ करिअ महासुह परिमाण। लुई भणइ गुरु पुच्छिअ जाण॥
—आदि (चर्या १)।

२. भाव ण होइ अभाव ण जाइ। अइस संबोहें को पतियाइ॥
लुइ भणइ वह दुलख विणाणा।
× × ×
जाहेर वाण चिह्न रूप ण जाणी। सो कइसे आगम वेएँ बखाणी॥
—आदि (चर्या २९)।

इस मिथ्यापरक भ्रांति को सत्यवत् स्वीकार कर लिया करते हैं। यह वैसा ही है जैसी मृगमरीचिका, गंधर्वनगरी, दर्पण-प्रतिबिंब, बंध्यापुत्र, बालू का तेल, खरहे की सींग, आकाश का फूल आदि। इन सभी का जो स्वभाव है वही जगत् का भी है जिसे तत्त्वतः समझ लेने पर हमारी सारी वासनाएँ आप-से-आप नष्ट हो जा सकती है। यदि यह बात अपनी मूर्खतावश हमारी समझ में न आ सके तो सद्गुरु के चरणों में बैठकर इसे भलीभाँति जान लेना चाहिए"।[1] इसी बात का अथवा भव के स्वरूप की एक धारणा का परिचय देते हुए एक चर्या के अंतर्गत सिद्ध चाटिल ने भी कहा है कि "यह भव की नदी बड़ी गहरी है तथा इसका प्रवाह बड़े वेग के साथ अग्रसर हुआ प्रतीत होता है। इसके दोनों तटों की ओर तो कीचड़-सा जान पड़ता है, किंतु बीच में इसकी अगाधता का कुछ पता वा आभास तक भी नहीं हो पाता।" इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार किसी नदी के प्रवाह में प्रत्येक जल कण एक दूसरे से पृथक् है, किंतु उनका सम्मिलित प्रवाह एक अखंड रूप ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार हम इस जगत् के

---

१. आइए अनुअनाए जगरे भाँतिएँ सो पड़िहाइ।
राजसाप देखि जो चमकिइ साँचे किता बोड़ो खाइ॥
× × ×
अइस सभावे यदि जग बूझसि तूटइ वासना तोरा।
मरुमरीचि गंधर्वनअरी, दापन पड़ि बिंबु जइसा॥
× × ×
जइतो मूढ़ा अच्छसि भान्ती पुच्छतु सद्गुरु पाव॥–(चर्या० ४१)

सतत प्रवहमान रूप की भी कल्पना कर सकते हैं जिसका प्रत्येक अस्तित्व वस्तुतः क्षणिक एवं एक दूसरे से पृथक्-पृथक् हैं, किंतु फिर भी वह एक और अखंड रूप धारण करता दीखता है।[१] प्रथम वाले दृष्टांतों के द्वारा जहाँ इससे अनस्तित्वपरक स्वरूप का वर्णन किया गया है, वहाँ दूसरे के द्वारा इसके सतत प्रवहमान रूप का।

यह जगत् मिथ्या एवं भ्रांतिजनक होता हुआ भी हमें क्यों सत्यवत् प्रतिभासित होता है इस बात का कारण स्पष्ट करते हुए सिद्ध कण्हपा ने अपनी एक चर्या द्वारा बतलाया है कि यह सभी कुछ हमारे अपने चित्त के विकल्पों का परिणाम है। इनका कहना है कि यही 'अभूत परिकल्प' कभी किसी सर्वव्यापी एवं शाश्वत आनंद के रूपमें भी परिणित हो जाया करता है। इन्हीं के अनुसार "चित्त सहज द्वारा महासुख रूप में शून्य संपूर्ण है अर्थात् वस्तुतः शून्य होता हुआ भी संपूर्ण है। स्कन्धों के वियुक्त हो जाने की दशा में भी किसी प्रकार विषण्ण बन जाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'कण्ह नहीं' यह कैसे संभव होगा? वह तो त्रैलोक्य में सदा व्याप्त रहकर आनन्द का उपभोग कर रहा है। वे लोग मूर्ख हैं जो दृश्यमान जगत् के बराबर नष्ट होते रहने का अनुभव करके दुःखित हो जाया करते हैं और वास्तविकता को समझ नहीं पाते। तरंग की गति क्या कभी सागर को सोख ले

---

१. भवणइ गहण गंभीर वेगें वारी। दुप्रान्ते चिखिल, माझे न थारी॥
—आदि (चर्या ५)।

सकती है ? ऐसी कल्पना तक भी करना बुद्धिहीन होने का परिणाम कहा जा सकता है। यह उसी प्रकार किसी प्रत्यक्ष बात का बोध न कर पाना है, जैसे दूध में चिकनाहट के रहते हुए भी उसे देख पाना[1]।" दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जो कोई मृत्यु के कारण इस शरीर के नष्ट हो जाने पर इस केवल पंच तत्त्वों के वियुक्त होने मात्र को अंतिम अवसान समझ लिया करता है उसे इस प्रक्रिया का वास्तविक रहस्य विदित नहीं। उसे पता नहीं कि इस दशा में भी हमारा आनन्दमय सहज स्वरूप बचा रह जाता है और उसी का शाश्वत एवं सर्वव्यापी अस्तित्व सदा बना रहा करता है।

बौद्ध तांत्रिकों की यह धारणा है कि जो कुछ परम सत्य रूप में वर्त्तमान है उसे हम अपने शरीर के भीतर ही प्राप्त कर ले सकते हैं जिस कारण इनके यहाँ भी काय-साधना को प्रायः उतना ही महत्त्व दिया गया मिलता है, जितना योग-साधना वाले मतों में। परंतु इस संबंध में इनकी एक विशेता इस रूप में देखी जाती है कि योग-साधना वाली प्रक्रिया में, जहाँ षट्चक्रों की चर्या आती है तथा इस प्रकार उसके क्रमिक विकास वा प्रगति की

---

१. चिअ सहजे शुन संपुण्णा। कान्ध वियोएं मा होहि विसण्णा ॥
भण कइसे काण्ह नाहि। फरइ अनुदिन तैलोए पमाइ ॥
मूढ़ा दिठ नाठ देखि काअर। भाग तरंग कि सोसइ साअर ॥
मूढ़ा अच्छन्ते न लोअ न पेखइ। दूध माझे लड़ अच्छन्ते न देखइ ॥
भव जाइ ण आवइ एथू कोइ। अइस भावे विलवद् कान्हिल जोइ ॥
—(चर्या ४२)।

कल्पना तदनुसार की जाती है, वहाँ बौद्ध तांत्रिकों के यहाँ उससे किंचित् भिन्न धारणा बना ली गयी मिलती है। कहते हैं कि महायानी बौद्धों ने बुद्धदेव के ऐतिहासिक अस्तित्व में विश्वास न प्रकट करते हुए उनके 'त्रिकाय' में अपनी आस्था प्रदर्शित की थी तथा उसके तीन पृथक् स्तरों का भी अस्तित्व स्वीकार कर लिया था और उन्हें क्रमशः 'निर्माणकाय', 'संभोगकाय' एवं 'धर्मकाय' जसी तीन संज्ञाएँ प्रदान करके उनके क्रमशः नाभि, हृदय, एवं कंठ में अवस्थित होने की ओर संकेत भी कर दिया था। परंतु बौद्ध तांत्रिकों ने इसमें कुछ संशोधन उपस्थित कर दिया तथा इन्होंने उनकी स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया जिससे उक्त तीसरा अर्थात् 'धर्मकाय' सर्वोच्च स्थान ग्रहण न करके उसके नीचे वाले हृदयस्थल पर आ गया तथा इसी प्रकार यहाँ वाला 'संभोग काय' अपने पूर्व स्थान से उठकर कंठ प्रदेश तक पहुँच गया। इसके सिवाय इन्होंने इसके साथ ही एक अन्य चतुर्थ काय की भी कल्पना कर डाली जिसे 'महासुखकाय' नाम दिया गया तथा उसे संभवतः उस पूर्व परिचित मस्तिष्क प्रदेश में अवस्थित किया गया, जहाँ योग-साधना वालों ने कभी सहस्रार का होना बतलाया था। बौद्ध तांत्रिकों ने उक्त महासुखकाय की कल्पना किसी सहज सुंदरी नैरामणि, नैरात्मा जैसे रूपों में भी कर डाली तथा नाभिदेश वाले निर्माणचक्र में उसे ही कभी चंडाली, कभी शबरी कभी डोंबी जैसे नामों द्वारा अभिहित करके उसे साधारण इन्द्रियों द्वारा स्पष्ट न होने योग्य ठहरा दिया।

इस प्रकार यदि इस शबरी, डोंबिन वा नैरात्मा आदि पर कुछ सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो ये अन्ततोगत्वा हमारे अपने शरीर के भीतर वर्त्तमान भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियों की परिचायिका मात्र ही ठहरायी जा सकती हैं। इनका प्रत्यक्षतः कोई अपना व्यक्तित्व नहीं हो सकता जिस दशा में इनके साथ किसी प्रकार के मिलन वा संयोग की धारणा बनायी जा सके। जिस समय इसे निर्माणकाय वाले स्तर पर जागृत किया जाता है इसको चंडाली कह दिया करते हैं, किंतु जब इसी का स्तर क्रमशः संभोगकाय की उन्नत दशा को प्राप्त कर लेता है तो यह नैरामणि आदि कही जाने लग जाती है। यहाँ तक कि चतुर्थ स्तर अथवा 'महासुखकाय' वाली स्थिति तक पहुँच कर यह 'सहज सुन्दरी' का रूप ग्रहण कर लेती है। प्रस्तुत चर्याओं के रचयिताओं इनका वर्णन यथास्थल अपने पारिभाषिक शब्दों की सहायता से किया है तथा इसके साथ ही इन्होंने उन विशिष्ट स्तरों वाले 'आनन्द' की ओर भी कभी-कभी संकेत किया है जिसे तदनुसार भिन्न संज्ञाएँ प्रदान की जाती हैं। उदाहरण के लिए निर्माणकाय की स्थिति में उपलब्ध आनन्द केवल 'शुद्ध आनन्द' मात्र ही कहा जाता है, किंतु 'धर्मकाय' में उसका रूप किसी 'परमानन्द' के नाम से अभिहित किया जाने लगता है। इसी प्रकार 'संभोग काय' में वही 'विरमानन्द' बन जाता है और अन्त में 'महासुखकाय' के स्तर पर आकर 'सहजानन्द' हो जाया करता है जिसे हम सर्वाधिक आदर्श रूप भी मान ले सकते हैं।

इसी सहजानन्द का ही सिद्ध कण्हपा ने अपनी एक चर्या के अंतर्गत सहज निद्रा के रूप में चित्रण किया है तथा इसके द्वारा अभिभूत अपनी विचित्र स्थिति का वर्णन करते हुए बतलाया है कि "इस निद्रा की दशा में हमारी 'स्व-पर' विभागों की चिंता जारी रही और हम सहज निद्रा में विभोर बनकर अपने नग्न रूप में आ गये अर्थात् अपनी सहजावस्था में प्रवेश कर गये। अब न तो किसी प्रकार की चेतना शेष रह गयी है, न हमें कोई पीड़ा ही सता सकती है और न हम गाढ़ी नींद में सो रहे हैं। हम सभी ओर से अब उऋण हो चुके और इसके परिणामस्वरूप अब हम पूर्ण सुख की निद्रा में लीन हो गये हैं।[1] इस प्रकार इन्होंने इस दशा का एक परिचय अन्यत्र अपनी मत्तावस्था के रूप में भी दिया है और वहाँ पर कहा है, "कण्ह अब किसी मदोन्मत्त हाथी के समान मत्त हो गया है और नलिनी वन जैसे 'सहज' के प्रदेश में प्रवेश करके अब हमने निर्विकल्पत्व की पूरी शांति प्राप्त कर ली है"।[2] सिद्ध भुसुकुपा ने तो इस विषय की चर्चा करते समय एक अन्य कथन-शैली में ही इसका वर्णन किया है। उनका कहना है, "अरे भुसुकु, देख यहाँ

---

१. घुमइ न चेवइ सयर विभागा। सहज निदालु कान्हिला लाङ्गा॥
चेअण न वेअण भर निद गेला। सअल सुफल भरि सुहे सुतेला॥
—आदि (चर्या ३६)।

२. कान्हु विलासअ आसव माता। सहज नलिनी वन पइसि निविता॥
—आदि (चर्या ९)।

पर गगन में किसी ऐसे अद्भुत 'सहज स्वभाव' का उदय हो गया है जिसका बोध होते ही सारा इन्द्रिय जाल (इन्द्रजाल) नष्ट हो जाता है और अपने मन के भीतर पूर्ण उल्लास आ जाता है; जैसे विषय की विशुद्धि हो जाने पर गगन में चंद्रमा की ज्योति छिटक रही हो।[3]

३. उइए गअण मांझे अदभूआ। पेखरे भूसुकु सहज सरूआ॥
जासु सुणन्ते तुटइ इन्दिआल। निहुरे णिअमन दे उलास॥
विसअ विसुद्धि महू बुज्झिअ आनन्दे। गअणह जिम उजोलि चान्दे॥
—आदि (चर्या ३०)।

समाज एवं संस्कृति का प्रभाव

चर्यापदों के रचयिता बौद्धसिद्ध कवियों का प्रत्यक्ष उद्देश्य इन्हें किसी सांप्रदायिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करना था और इसके लिए साधन-स्वरूप उनके यहाँ अपनी कोई पारिभाषिक शब्दावली तक भी वर्त्तमान थी। तदनुसार उन्होंने इनके द्वारा न केवल अपने दार्शनिक तथा धार्मिक मत-विशेष का परिचय दिया, अपितु इसके साथ ही उन्होंने अपनी कतिपय विशिष्ट साधनाओं तक की ओर भी संकेत किया जिनमें से कुछ की चर्चा इसके पहले की जा चुकी है। परंतु उनमें से अधिकांश न तो विशुद्ध दार्शनिक कहे जा सके थे, न वे धर्मोपदेशकों की ही श्रेणी में लाये जा सकते थे जिस कारण उनकी कथन-शैली का स्वरूप कभी पूर्णतः धर्माचार्यों जैसा नहीं हो सका। इसके सिवाय, इन रचनाओं के अधिकतर सर्वसाधारण के लिए भी निर्मित किये जाने के कारण इनका सरल एवं सुबोध जान पड़ना भी आवश्यक हो गया जिसके लिए उन्होंने इनमें अनेक लोक-प्रचलित बातों का समावेश करके इन्हें भरसक आकर्षक भी बना देना चाहा। इस प्रकार इनमें प्रसंगवश, किसी लोकप्रिय वर्णन-शैली के अतिरिक्त हमें बहुत से ऐसे सामाजिक अथवा सांस्कृतिक विषयों के उदाहरण भी मिल जाया करते हैं जिन्हें उन्होंने यहाँ संभवतः केवल पृष्ठभूमि के रूप में ही स्थान दे दिया होगा। स्पष्ट है कि ऐसा करते समय

उनका उद्देश्य कभी अपने समकालीन समाज का यथार्थ चित्रण करना नहीं रहा होगा तथा यह भी असंभव नहीं कि उन्होंने कभी-कभी किन्ही पूर्व प्रचलित दृष्टांतों के प्रयोग तक भी कर दिये होंगे। परंतु इस बात में कोई संदेह भी नहीं किया जा सकता कि ऐसी बातों में से अधिकांश का उपयोग उन्होंने अपने समकालीन समाज के आधार पर ही किया होगा। सारांश यह कि यदि हम इन चर्यापदों में से कतिपय विशिष्ट स्थलों पर विचार करने लगें तो इस बात का भी पता चल जा सकता है कि उनके आविर्भाव-काल वाले युग की सामाजिक स्थिति कैसी रही होगी।

जिन बौद्ध सिद्धों की रचनाएँ यहाँ पर संगृहीत पायी जाती हैं उनमें से सभी का जन्म-स्थान केवल किसी एक ही प्रान्त के अंतर्गत सिद्ध नहीं किया जा सकता है; और जैसा हम देख आये हैं, हमें इस संबंध में असम-बंगाल से लेकर उत्कल, विहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश, मेवाड़, मालवा, महाराष्ट्र एवं कन्नड प्रांत तक के विस्तृत भू-भाग पर दृष्टि डालनी पड़ जाती है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर हमें कभी-कभी, इस विषय में भी अनुमान करना पड़ता है कि न केवल उनमें से कई का प्रारंभिक वातावरण एक दूसरे से नितांत भिन्न रहा होगा, प्रत्युत उनकी मूल भाषाएँ तक भी परस्पर भिन्न-भिन्न ही रही होंगी। परंतु जब कभी उन्हें अपनी पूर्वस्थिति का त्याग करके उस समय वाले विख्यात महापुरुषों के संपर्क में आना पड़ा, अथवा उन्हें उन दिनों प्रसिद्ध विक्रमशील जैसे विश्वविद्यालयों के वातावरण में प्रवेश करना पड़ गया उनकी उक्त

भिन्नताओं का क्रमशः लोप होता जाना भी स्वभावतः संभव हो गया तथा वे अंत में सभी एक दूसरे के समान तक भी दीख पड़ने लगे। उनकी विचार-धारा, रहन-सहन, साधना आदि की समानता ने उन्हें एक विशिष्ट वर्ग वाले सदस्यों के रूप में परिणत कर दिया जिसका परिणाम उनकी प्रस्तुत रचनाओं के ऊपर भी पड़े बिना नहीं रह सका। इन रचनाओं पर ध्यान पूर्वक विचार करने पर हमें पता चलता है कि उन कवियों का आपस में कुछ-न-कुछ सांप्रदायिक मतभेद भी रहा होगा, किंतु इस बात का प्रभाव हमें केवल उनकी अपनी-अपनी साधनाओं में लक्षित होने वाले स्थूल भेदों मात्र पर ही पड़ा हुआ जान पड़ता है। इस संबंध में हम केवल इतना ही कह सकते है कि उनमें से कौन-कौन और किस-किस मात्रा में विशिष्ट तांत्रिक साधनाओं द्वारा न्यूनाधिक प्रभावित रहे होंगे अथवा कहाँ तक उन्होंने किसी उप-संप्रदाय-विशेष की साधना-प्रणाली को स्वीकार कर लिया होगा। जहाँ तक उनके द्वारा अपने भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करते समय इसके साधन-स्वरूप अपने सामाजिक परिवेश की सहायता लेने का प्रश्न है, उनमें से प्रायः सभी ने अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार ऐसा किया है।

इन चर्यापदों के रचयिताओं ने ऐसा करते समय अपने समकालीन समाजकी केवल एक झाँकी मात्र ही दी है और वह भी कभी-कभी भलीभाँति विवृत नहीं हो पायी है जिस कारण उसे अधूरी तक भी ठहरा सकते हैं। परंतु जिस रूप में या जिस प्रकार

उसका चित्रण किया गया है उसे हम कम आकर्षक भी नहीं कह सकते। ऐसी झाँकी के द्वारा हमें कभी तत्कालीन पारिवारिक जीवन का पता चलता है, कभी उस काल की विभिन्न जीविकाओं का कुछ-न-कुछ परिचय मिलता है, कभी किसी-न-किसी प्रचलित प्रथा का संकेत मिलता है तो कभी उन मनोरंजन-संबंधी कई साधनों की भी धारणा बन जाती है जिन्हें उन दिनों अपनाया जाता रहा होगा। इस प्रकार हमें अनेक ऐसे आधार मिल जाया करते है जिनके पट पर, यदि हम चाहें तो, कोई-न-कोई एक काल्पनिक चित्र अवश्य तैयार करले सकते हैं। उन सिद्ध कवियों द्वारा इस संबंध में प्राप्त की गयी कथन-कौशल से प्रभावित होकर कुछ लेखकों ने उनकी बड़ी प्रशंसा की है तथा उक्त ऐसे चित्रों को कभी 'वास्तवमुखीन'[1] तो कभी 'जीवन-दर्पण'[2] तक भी कह डाला है। ऐसे कुछ स्थलों के आधार पर हम यहाँ दो-चार उदाहरण उपस्थित करने जारहे हैं :

१. समाज में छुआछूत का भेद भाव

जान पड़ता है उन दिनों भी हिन्दू समाज के भीतर अस्पृश्यता की भावना काम कर रही थी जिस कारण न केवल उच्चवर्ण वाले अंत्यजों का स्पर्श मात्र नहीं करते थे, अपितु इसके कारण इन्हें नगर के बाहर बसाया तक जाता था। सिद्ध कण्हपा ऐसे ही एक

---

१. 'चर्यागीति परिचय' (सत्यव्रत दे) पृ० १०७।

2. 'The Charyapadas' : Atindra Mojumdar p. 10 (Introduction)

प्रसंग में, डोमिन की चर्चा छेड़ कर उसे संबोधित करते हुए कहते हैं, "अरी डोमिन, तेरा घर तो नगर के बाहर है। किंतु तू ब्राह्मणों और ब्रह्मचारियों को छू-छू दिया करती है। तेरा साथ मुझे करना है, क्योंकि मैं भी स्वयं कापाली एवं नंगा जोगी हूँ तथा इसी कारण, मैं घृणास्पद भी समझा जाता हूँ[1]।"

इसी प्रकार डोमिन की भाँति अछूत समझी जानेवाली शबरी के विषय में भी वर्णन करते हुए अन्यत्र उसका किसी ऊँचे पर्वतीय स्थान वा टीले पर निवास करना बतलाया गया है। इसी प्रसंग में, उसकी वेशभूषा का भी परिचय दिया गया है। वहाँ पर सिद्ध शबरपा का कहना है, "ऊँचा-ऊँचा पर्वत है, जहाँ पर शबर की बालिका रहती है, वह मोरपुच्छ धारण करती है और उसके गले में गुंजा का हार पड़ा रहता है। अरे उन्मत्त और पागल शबर, तू गुल-गपाड़े मत कर तुम्हारी गृहिणी सहजसुन्दरी है। अनेक बड़े-बड़े वृक्ष पुष्पित हैं और उनकी शाखाएँ गगन को छू रही हैं। यहाँ पर अकेली शबरी कानों में कुंडल एवं वज्र धारण करके वन में घूमती फिरती है"।[2]

---

१. नगर बाहिरे डोंबि तोहोरि कुड़िया।
छइ छोइ याइसि वाह्म नाडिया॥
आलो डोंबि तोए सम करिबे म साङ्ग।
निघिण कान्ह कापालि जोइ लाङ्ग॥
—आदि (चर्या १०)।

२. ऊँच ऊँचा पावत तहि बसइ सबरी बाली।
मोरंगि पीच्छ परहित्ता सबरी गीवत गुंजरी माली॥

२. सामाजिक प्रथाएँ

इन चर्यापदों में से एकाध के अंतर्गत कहीं-कहीं कतिपय प्रचलित समाजिक प्रथाओं का वर्णन भी प्रसंगवश कर दिया गया दीख पड़ता है और इसके द्वारा उनसे संबद्ध आयोजनों तक की कुछ-न-कुछ झलक मिल जाती जान पड़ती है। उदाहरण के लिए कण्हपा की नीचे दी गई चर्या के पढ़ने से हमें ऐसा लगता है कि यद्यपि इसकी रचना उनके द्वारा अपनी किसी साधना-विशेष के वर्णन मात्र के लिए की गई है, किंतु इसके माध्यम से हमें उस काल की प्रचलित वैवाहिक वर-यात्रा की प्रथा का एक चित्र भी देखने को मिल जाता है तथा हमें यह भी पता चलता है कि उन दिनों उसके उपलक्ष में यौतुक वा दहेज देने की परंपरा तक भी विद्यमान रही :

भव निर्वाणे पडह मादला।
मन पवन वेगि करंड कशाला॥
जअ-जअ दुंदुहि साद उछलिया।
कान्ह डोंबी विवाहे चलिया॥

उमत सबरो पागल सबरो माकर गुलो गुडाहा तोहोरि।
णिअ धरिणी णामे सहज सुंदरी।।
णाणा तरुवर मौलिल रे गअणत लागेली डाली।
एकेली सबरी ए बन हिंडइ कर्णकुंडल वज्रधारी।।
--आदि (चर्या २८)।

डोंबी विवाहिआ अहारिउ नाम ।

जउतुके किअ आणुतु धाम ॥–आदि (चर्या १९)।

अर्थात् "जिस समय कण्ह डोमिन से विवाह करने चला, भव एवं निर्वाण इन दोनों की पटह (यशोभेरी) और मादल (ढोल) निनादित हुए तथा मन एवं पवन इन दोनों के करंड (वाद्य-विशेष) एवं कशाला (कांसा वाले करताल) बजने लगे और दुंदुभि का शब्द आकाश में व्याप्त होने लगा डोमिन का पाणि-ग्रहण करके कण्ह ने अपने जान (जन्म) का अंत कर डाला और दहेज के रूप में उसने अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) धाम को प्राप्त कर लिया और अब इसके परिणामस्वरूप सर्वदा आनंद में विभोर रहा करता है।" इसी प्रकार अपनी एक चर्या के अंतर्गत सिद्ध शबरपा ने जो अपनी उपलब्ध मनोदशा का वर्णन किया है उसके एक अंश द्वारा भी हमें उन दिनों प्रचलित उस प्रथा की एक झलक मिल जाती जान पड़ती हैं जो किसी की मृत्यु के समय उसकी अंत्येष्टि-क्रिया के रूप में देखी जाती रही। शबरपा का कहना है, "उस (देहांत हो जाने की) स्थिति में चार बाँसों की गढ़ी गई 'चंचाली' (शव ले जाने के चांचर) के ऊपर शबर को ले जाकर उसकी दग्ध-क्रिया की गई और गीध एवं सियार क्रंदन करने लगे। भव के प्रपंचों में उत्सव बने, रहने वाले की मृत्यु हो गई जिसके पश्चात् दसों दिशाओं में बलि का पिंड दिया जाने लगा। अरे देख शबर, अब तू सदा के लिए निश्चल बन गया तथा तेरा सारा शबरपना नष्ट और निर्मूल हो गया :

चारि बासें गड़िल रे दिआँ चंचाली।
तहिं तोलि सबरो डाह कएला कांदइ सगुण शिआली॥
मारिल भवमत्ता रे दह दिहे दिधलिवली।
हेरि से सबरो बिरेचन भइला फिटिलि षबराली॥

—आदि (चर्या ५०)।

३. जीविकाएँ

बौद्धसिद्धों की इन चर्यागीतियों के अंतर्गत प्रसंगवश कई ऐसी जीविकाओं का भी संक्षिप्त उल्लेख कर दिया गया पाया जाता है जिसके आधार पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वे उन दिनों के लोगों द्वारा अवश्य स्वीकृत रही होंगी। उदाहरण के लिए अपनी एक साधना-पद्धति का परिचय देते समय विरुपा मद की तैयारी तथा उसके विक्रय का वर्णन करने से लग जाते हैं जिससे पता चलता है कि उन दिनों इस प्रकार की कोई जीविका भी चलती रही होगी उनका कहना है कि "एक ही कलाली दो घरों का संबंध जोड़ दिया करती है और चिकने बल्कल द्वारा मदिरा को बाँध देती है जिसको देखते ही मद का क्रय करनेवाला आप-से-आप आ जाता है और फिर वहाँ से वह बाहर निकल नहीं पाता। एक ही छोटी-सी गागर में पतली सी नली लगी रहा करती है, इस कारण बड़े शान्त-भाव के साथ उसे चलाना उचित कहा जायगा।" विरुपा के शब्दों में,

एक से शुण्डि की दुइ घरे सान्धअ।
भीअण वाकलअ वारुणी बान्धअ॥

दशमि दुआरत चिह्न देखइआ।
आइल गराहक अपणे रहिआ॥

× × ×

पइठेल गराहक नाहि निसारा॥
एक घडुली सरुई नाल।
भणन्ति विरुआ थिर करि चाल॥–(चर्या ३)।

इसी प्रकार सिद्ध शान्तिपा ने अपनी एक चर्या द्वारा किसी धुनिया के हाथ धुनी जानेवाली रूई के महीन अंशों का स्मरण दिलाया है। उनका कहना है कि "मैं रूई को उसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म-तर अंशों तक धुनता चला गया जब तक कुछ भी शेष नहीं रह गया। ***मैंने रूई को इस प्रकार शून्य तक पहुँचा दिया तथा उसे जमा किया और स्वयं अपने को ही निःशेष कर डाला।"

तुला धुणि धुणि आँसु रे आँसु।
आँसु धुणि धुणि णिरवर सेसु॥

× × ×

तुला धुणि धुणि सुणे अहारिउ।
शून लइया अपणा चटारिउ॥–(चर्या २६)।

जिसके द्वारा पता चलता है कि रूई की धुनाई किस प्रकार की जाती थी। सिद्ध तंतीपा ने तो एक चर्या द्वारा संभवतः स्वयं अपने वयनजीवि-कार्य-पद्धति की ओर भी संकेत कर दिया है। यों तो उन्होंने बतलाया है कि किस प्रकार काल तंत्रपंचक से

निर्मल वस्त्र बुनता रहा करता है। मैं तंत्री हूँ और अपना सूत्र भी हूँ तथा मैं अपने सूत्र का लक्षण नहीं जानता। किंतु उनका फिर कहना है कि बुनने की प्रक्रिया तीन भागों में साढ़े तीन हाथों तक फैलती है और इसके द्वारा गगन भर जाया करता है। उनका यह भी कथन है कि वयन-कार्य ही वास्तव में अनाहत का शब्द है जिसे उन्होंने गुरूपदेश द्वारा स्थिर कर लिया तथा दोनों स्थानों (भावाभाव) को लेकर सूत्रों द्वारा दृढ़तापूर्वक विस्तृत एवं आच्छादित भी कर दिया। उनके अनुसार ऐसे वयन वाली प्रक्रिया के सहारे कोई ऐसा अनुभव प्राप्त होता है जिससे हमें अपने मोह-मल से मुक्ति मिल जाया करती है :

धामह पइठा वाजठावि कहेइ।
काल पाञ्चतान्ते सुध कटवअइ॥
हांउ से तान्ति सूता अपना।
अपने सूतेर लक्खन न जाना॥
अब उठ हाथ वेग पसरिउ भुअने।
गअन पूरिल एहु कट वअने॥
अनहा वेम कट वअन थिरा।
वे मन तोड़ि जोड़िया दिढ़ा॥
पइठाम निति सूनत पाइ।
तंत्री छाड़ि वाजिल होइ॥–(चर्या २५)।

और इसके आधार पर उनकी विशिष्ट साधना तथा उनकी जीविका वाले वयन-कार्य इन दोनों की प्रक्रियाओं में किसी विलक्षण

समानता पाये जाने का भी संकेत मिलता है। इसी प्रकार सिद्ध कण्हपा भी एक अपनी चर्या (सं० १०) में डोमिन से कहते हैं कि "अब तू अपनी ताँत बेंच दे और चंगेले को भी अपने पास न रख" जिससे उसके द्वारा किसी प्रकार की (चंगेली, सूप, आदि) बिनने की जीविका चलाये जाने का भी पता चलता है।

परंतु इस प्रकार की किसी जीविका के संबंध में यहाँ पर उतना उल्लेख किया गया नहीं मिलता, जितना नावों के खेने का। उदाहरण के लिए सिद्ध कामलिपा ने अपनी एक चर्या में कहा है, "करुणा की नाव सोने से भरी हुई है और इसमें चाँदी रखने के लिए कोई जगह खाली नहीं है। अरे कामलि, तू अब खूँटे को उखाड़ कर बँधे हुए रस्से को खोल दे और सद्गुरु से पूछकर आगे बढ़ जा। नाव की 'गलही' के आगे होते ही चारों ओर देख ले; केरुवार न रहने पर कौन ऐसा है जो नाव को खे सकता है, क्योंकि उसी के सहारे बायें वा दायें का मार्ग ग्रहण किया जा सकता है"।[1] इसी प्रकार अन्यत्र डोंबीपा ने कहा है, "गंगा एवं यमुना के मध्य नाव बहती है, जहाँ रहनेवाली डोमिन जोगी को सुभीते के ही साथ पार करा देती है, आगे पाँचों केरुवार काम करने लगते हैं और पीछे की ओर कछार बँधा रहता है। हत्थे के द्वारा पानी को बाहर निकालो जिससे वह संधियों वा छिद्रों में कहीं प्रवेश न करने पाये। यहाँ पर मस्तूल में पाल बँधा है जिसमें दो चक्र भी है। बायें-दायें किसी भी ओर नाव को होने

१. चर्या (स० ८)।

न दो और इसे स्वच्छंद रूप में आगे चले चलने दो। वह न तो पैसा लेती है, न कौड़ी लिया करती है, प्रत्युत स्वयं अपने आप अनायास ही पार कर देती है। जो इस पर चढ़ कर बहता नहीं, वह किनारे ही डूब जाता है[1]।" इसके सिवाय सिद्ध सरहपा ने भी अपनी एक चर्या द्वारा बतलाया है कि "काया एक छोटी-सी नाव है जिसका केरुवार मन है। इस कारण सद्गुरु से उपदेश ग्रहण करके पतवार संभालो। चित स्थिर करके नाव को पकड़ लो, क्योंकि किसी दूसरे उपाय से कभी पार नहीं जा सकते। नाव को 'गोन' से टान कर उसे नौ-वाहक आगे बढ़ाता है। मैं अपनी मेलजोल वाले सहज के अतिरिक्त दूसरे किसी को नहीं जानता। बलवान बटमार के रूप में उसका भय वर्तमान है और भव-समुद्र की लहरों में सभी कुछ 'बोल' देता है (नष्ट हो जाता है)। यदि तुम किनारे-किनारे की तीव्र धारा में उत्तरोत्तर खेते चलो तो सरह का कहना है कि तुम गगन में प्रवेश कर जा सकोगे[2]।" अतएव, इन तीनों चर्याओं के आधार पर हमें नौका-यात्राओं का भी कुछ-न-कुछ पता चल जाता है। इस विषय की किसी-न-किसी रूप में चर्चा करनेवाली दो अन्य चर्याएँ अर्थात् १३वीं एवं १५वीं भी देखी जा सकती हैं। जहाँ तक अन्य जीविकाओं के विषय में कहा जा सकता है उनमें से एक का उदाहरण तो चर्या (सं० ४९) में ही मिलता है, जहाँ पर भुसु-कुपा ने कहा है कि 'वज्र' की नाव ले करके मैंने उसे 'खाल' की

---

१. चर्या (स० १४)। २. चर्या (स० ३८)।

ओर बहाया, किंतु निर्दय बंगाल देश में जाते ही लुट गया जिससे स्पष्ट है कि उधर की ओर जल-दस्युओं द्वारा डकैती की भी एक जीविका अपनायी जाती रही होगी। इसी प्रकार सिद्ध कुक्कुरीपा की भी चर्या (सं० २) से प्रकट होता है कि उन दिनों के कुछ लोग आधी रात के समय, जब किसी के घर वाले लोग सोये रहा करते थे और उसका आँगन सूना-सा दीखता था, वहाँ चुपके-चुपके जाकर गहने आदि चुरा लिया करते थे।

४. मनोरंजन

इन चर्यापदों में से कुछ के द्वारा यह भी प्रकट होता है कि उन दिनों के समाज में मनोरंजन को भी कम महत्त्व नहीं दिया जा रहा होगा और अपनी जीविका में लगे रहने के अतिरिक्त कुछ लोग अपना जी बहलाया भी करते होंगे। सिद्ध भुसुकुपा ने ऐसे मनोरंजनों के साधनों में से हरिण के आखेट का वर्णन किया है जिससे पता चलता है कि ऐसे अवसरों पर किस प्रकार का प्रबंध करना पड़ता था और क्या-क्या किया जाता था। इस प्रसंग में उन्होंने कहा है,

काहेरे घिनि मेलि अच्छहु कीस।
बेढ़िल हाक पड़अ चौदीस॥
अपणा मांसे हरिणा वैरी।
खनह न छाड़अ भुसुकु अहेरी॥
तिण न छुवइ हरिणा पिवइ न पाणी।
हरिणा हरिणिर निलअ न जाणी॥–आदि (चर्या ६)।

अर्थात् अरे तू किसके निकट और किसके साथ रहा है (और अपने सामने की वस्तुस्थिति की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता) क्या नहीं देखता है कि तू घिरा हुआ है और तुम्हारे चारों ही ओर से हाँक पड़ रही है (और अब शिकार होने ही जा रहा है)। हरिण अपने मांस के कारण सब किसी के लिए वैरी बन गया है और इसे कोई शिकारी, एक क्षण के लिए भी छोड़ना नहीं चाहता। यह (बेचारा) न तो तृण छूता है, न पानी ही पीता है, यह तो अपनी हरिणी के निवास-स्थान तक से अपरिचित हैं।" फिर, इसी प्रकार सिद्ध भुसुकपा ने अपनी एक अन्य चर्या के अंतर्गत भी, ऐसे किसी आखेट की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है और उन्होंने यहाँ पर भी हरिणों के लिए बिछाये जानेवाले जाल आदि की चर्चा कर दी है,

जइ तुहें भुसुकु अहेरी जाइवें मारिहसि पंचजना।
नलिनी वन पइसन्ते होहिसि एकु मणा॥

× × ×

माआजाल पसरिउ बाधेलि माआ हरिणी।
सद्गुरु वोहें बूझिरे कासु कहाणी॥
काए अपणा न तूरइ माला कि अहारेइ।
जाल अकाल वेणि वि लेइ॥
जाल न सिकल रे हरिणा एक वि वासइ।
चञ्चल चञ्चल चलि रे सून माँझे समाइ॥

—(चर्या २३)।

अर्थात् हे भुसुकु, यदि आखेट के लिए जाना तो पाँचों को मारना और तत्पश्चात् नलिनी वन में प्रवेश करके एकांतिक मन वाला बन जाना। माया-जाल को पसारकर माया हरिणी को बंधन में लाया गया है जिसका रहस्य तुम्हें केवल सद्गुरु ही बतला सकता है। काल एवं अकाल दोनों को लेकर देखने पर न तो कोई जाल है, न कोई शृंखला ही है। हरिण स्वयं जाल पड़ना चाहता था और फिर वह शीघ्रातिशीघ्र भागता हुआ, अंत में, शून्यता के भीतर लुप्त हो गया। इस प्रकार यहाँ पर केवल उसकी एक झलक मात्र आ पायी है।

परंतु सिद्ध कण्हपा की एक चर्या द्वारा पता चलता है कि वहाँ पर उन्होंने शतरंज के खेल का चित्रण कहीं अधिक स्पष्ट रूप में उपस्थित किया है जिसके आधार पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि मनोरंजन के इस माध्यम का उन दिनों बहुत कुछ प्रचार अवश्य रहा होगा। यह खेल जिसे आजकल उतना महत्त्व नहीं दिया जाता, कदाचित् उस समय लोकप्रिय भी रहा होगा। सिद्ध कण्हपा का कहना है कि "करुणा की झलक (पीठिका) पर मैं शतरंज खेलता हूँ और सद्गुरूपदेश द्वारा बोध हो जाने पर मैंने इसकी सहायता से भव-बल (संसार की शक्ति) के ऊपर विजय प्राप्त कर लिया है। मैंने ठाकुर (बादशाह) को मात करके दोनों प्रकार की चालों को प्रभावहीन कर दिया हैं और इस प्रकार उपकारी वाले संकेतों के बल पर कण्ह जिनपुर (आनन्द) पा गया है। सर्व प्रथम मैंने गोटी (सिपाही) को पूर्णतः नष्ट कर

देना आरंभ किया और तब हाथी (फील) को लेकर पाँचों जनों को मार डाला। मंत्री के द्वारा ठाकुर को समाप्त किया और अब मैंने अवश्य ही भव-बल पर अपना अधिकार कर लिया है। कण्ह कहता है कि मैं भली-भाँति समझ बूझकर दाव (सुविधा) दिया करता हूँ और गिनकर चौसठों कोठों पर अधिकार जमा लेता हूँ :

करुणा पिड़ि खेलहुँ न अबल।
सद्गुरु वोहें जितेल भव बल॥
फीरउ दुआ मादे सिरे ठाकुर।
उआरि उवस कान्हू णिअर जिनउर॥
पहिलें तोड़िया बडिआ मराड़िइउ।
गअवरें तोलिआ पाञ्च जना घालिउ॥
मतिएँ ठाकुरक परिनिवित्ता।
अवश करिआ भव बल जिता॥
भणइ कान्हु आम्हें भलि दाय देहुँ।
चउबट्टि कोठा गुणिया लेहुँ॥

—(चर्या १२)।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि सिद्ध वीणापा ने अपनी चर्या द्वारा वीणा के निर्माण एवं वादन का भी अच्छा चित्रण किया है जिससे पता चलता है कि मनोरंजन के इस माध्यम का भी उन दिनों बहुत कुछ प्रचार अवश्य रहा होगा। वीणापा ने वहाँ पर बतलाया है कि उनकी वीणा में सूर्य की तूंबी तथा चन्द्र की ताँत लगी है तथा अनहद डंडी है और अवधूती की चाकी है। हे सखि,

इस प्रकार की 'हेरुक वीणा' बजने लगी है जिसके फलस्वरूप शून्य की तंत्री-ध्वनि करुणा के साथ प्रसरित हो रही है। आलि-कालि (श्वास-प्रवास) इन दोनों को सारिका (ताँत चढ़ाने की खूँटी) मान ली तथा गजेन्द्र (चित्त) की समरसता को संधि-स्थान समझ लिया। इस कारण जब कभी अपनी हथेली द्वारा ताँतों में से कुछ को चाँपते वा दबाते हैं तो बत्तीसों ध्वनि व्याप्त हो जाया करती है। उस अवसर पर वज्रधर हेरुक नाच उठता है और नैरात्मा देवी भी गान करने लग जाती है तथा 'बुद्ध नाटक' का दृश्य उपस्थित हो जाता है" :

सूज लाउ ससि लागेलि तान्ती।
अणहा दाण्डी चाकि किअत अवधूती॥
वाइज अलो सहि हेतअ वीणा।
सुन तान्ति-धनि विलसइ रूणा॥
आलि कालि वेणि सारि मुणिआ।
गअवर समरस सान्धि गुणिआ॥
जबे करहा करहकले चापिउ।
बत्तिश तान्ति धनि सएल विआपिउ॥
नाचन्ति बाजिल गान्तिदेवी।
बुउ नाटक विसमा होइ॥

—(चर्या १७)।

सारांश यह कि यदि हम प्रासंगिक रूप से चर्यापदों वा चर्यागीतियों के अंतर्गत किये गए कतिपय चित्रणों पर विचार

करते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि इनके रचयिताओं ने इनके द्वारा हमें अपने समकालीन समाज की स्थिति, उसके कुछ सदस्यों की मनोवृत्ति, रहन-सहन, प्रथाओं तथा उनके मनोरंजन-संबंधी साधनों आदि की ओर भी कुछ-न-कुछ संकेत अवश्य किया होगा। इस प्रकार, यदि हम चाहें तो इसकी सहायता से उनके आविर्भाव-काल के साथ ही उनके अपने कार्यक्षेत्र का भी बहुत कुछ पता लगा सकते हैं अथवा कम-से-कम इस विषय में थोड़ा-बहुत अनुमान मात्र भी कर सकते हैं। कुछ लेखकों में जिनमें स्व० शास्त्री का भी एक नाम लिया जा सकता है, ऐसी बातों के आधार पर इस बात को प्रायः स्वीकार-सा कर लिया है कि इन रचनाओं वाले कवियों का कार्य-क्षेत्र तथा निवास-स्थान तक भी बंगप्रदेश अवश्य रहा होगा। ऐसे लोग अपनी इस धारणा के बल पर इनके विभिन्न स्थलों का वास्तविक अभिप्राय भी तदनुसार ही निर्धारित करना चाहते हैं। परंतु, जैसा इसके पहले भी कुछ संकेत किया जा चुका है, अद्यावधि उपलब्ध अधूरी सामग्री के आधार पर हमारा इस प्रकार का कोई अंतिम निर्णय करने का कभी पूर्णतः युक्तिसंगत नहीं ठहराया जा सकता है।

●

साहित्यिक मूल्यांकन

बौद्ध सिद्धों द्वारा की गयी चर्या-रचना का प्रमुख उद्देश्य अपनी सांप्रदायिक भावनाओं की अभिव्यक्ति और अपनी विशिष्ट साधनाओं का वर्णन मात्र ही हो सकता था, काव्य-कौशल के प्रदर्शन का नहीं। इसके अतिरिक्त, जैसा उनके द्वारा प्रयोग में लाये गए प्रतीकादि के आधार पर कहा जा सकता है, उनका लक्ष्य अपनी बातों का सर्वसाधारण के बीच प्रचार करना भी रहा जिसके लिए उनके द्वारा किसी साहित्यिक शैली-विशेष का व्यवहार में लाना उतना आवश्यक भी नहीं कहा जा सकता था। फिर भी, जैसा हम इसके पहले भी देख आये है, उनमें से कई एक अपने समय के महान् पण्डित और आचार्य भी थे जिस कारण यह संभव था कि उन्हें कुछ-न-कुछ काव्यशास्त्र का भी ज्ञान रहा हो तथा उन्होंने कभी-कभी काव्यरचना का अभ्यास भी किया हो। यों तो जो उनमें से प्रतिभाशाली पुरुष रहे उनके लिए उक्त प्रकार की सरस पंक्तियों का निर्माण कर देना बहुत-कुछ स्वाभाविक भी रहा होगा। इस प्रकार उन्होंने अपनी चर्याओं को प्रस्तुत करते समय इनके अंतर्गत ऐसे स्थलों का समावेश आप-से-आप कर दिया होगा। इन चर्याओं के विषय में इस दृष्टि से विचार करते समय हमारा ध्यान इस बात की ओर भी जा सकता है कि बौद्धसिद्ध केवल विशुद्ध धार्मिक पुरुष ही नहीं कहे जा सकते

थे। उनकी साधनाओं के भीतर कतिपय ऐसी प्रक्रियाओं का भी समावेश कर लिया जाता रहा, जिन्हें तांत्रिक दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व प्रदान करते हुए भी कभी ऐसा नहीं समझा जा सकता था कि उनका वर्णन जन-साधारण की शब्दावली से किसी सर्वथा भिन्न माध्यम द्वारा किया जाना चाहिए। इस कारण, जब कभी ऐसे अवसर सामने आये उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति की शैली को स्वभावतः वही प्रचलित रूप दे डाला जिससे अधिक-से-अधिक लोग परिचित रहे। ऐसा करते समय, उन्होंने भावावेश में आकर प्रायः ऐसी ललित वाक्य-रचना भी कर डाली जो सुंदर काव्य के उपयुक्त उदाहरणों में गिनी जा सकती हैं। फिर भी इतना असन्दिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि इन चर्यापदों के अधिकांश स्थल काव्य-कला की दृष्टि से उतने उत्कृष्ट नहीं कहे जा सकते और न इसी कारण, उनका कोई अधिक साहित्यिक मूल्य ही ठहराया जा सकता है। यह बात दूसरी है कि इनके शेष भाग वाली चर्यागीतियों के अंतर्गत अनेक ऐसे स्थल भी मिल सकते हैं जिन पर हम साहित्यिक दृष्टि से भी विचार कर सकते हैं। इन रचनाओं के कवियों में से एकाध ऐसे अवश्य मिलेंगे जिनकी पंक्तियों के आधार पर हम यहाँ तक भी अनुमान कर सकते हैं कि उनमें कुछ-न-कुछ स्वाभाविक प्रतिभा का भी अंश रहा होगा।

इस संबंध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि इन चर्यापदों के रचयिताओं ने प्रसंगवश, अनेक ऐसे प्रतीकों को अपने उपयोग में लाया है तथा कभी-कभी ऐसे रूपकों, उत्प्रेक्षाओं आदि के भी

प्रयोग किये हैं जो वास्तव में महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं तथा जिनके कारण भी हमें उनकी रचना-शैली की चर्चा करते समय इस प्रश्न पर विचार करना पड़ जाता है। इसके सिवाय, उनकी एक रचना-पद्धति विशेष के लिए कभी 'संध्या भाषा' तो कभी 'संधा भाषा' जैसे शब्द का व्यवहार किया गया मिलता है। इन दोनों में से किसे उसके संबंध में सर्वथा उपयुक्त माना जाय, इस पर अनेक विद्वानों का आपस में मतभेद भी पाया जाता है। अतएव हमारे लिए यहाँ पर उसके साहित्यिक महत्त्व की ओर भी कुछ-न-कुछ आकृष्ट हो पड़ना स्वाभाविक हो जाता है। हम इस बात का उल्लेख बहुत पहले ही कर आये हैं कि सिद्धों की उक्त शैली के लिए स्व० शास्त्री द्वारा 'संध्याभाषा' शब्द का प्रयोग किये जाने तथा इसके अर्थ की व्याख्या उनके द्वारा 'आलो-आन्धारी भाषा' के रूप में किये जाने पर कुछ दिनों तक बहुत वाद-विवाद चलता रहा। आचार्य विधुशेखर शास्त्री के अनुसार 'संध्याभाषा' जैसा शब्द ही यहाँ पर नहीं हो सकता और उसे वस्तुतः 'संधाभाषा' होना चाहिए जिसका अर्थ 'अभिप्राययुक्त भाषा' किया जा सकता है और जो यहाँ पर अधिक उपयुक्त भी ठहराया जा सकता है। इन्होंने इस मत के समर्थन में बड़ी विद्वत्तापूर्ण तर्क-शैली का प्रयोग किया जिसका प्रभाव भी पड़े बिना नहीं रह सका। डा० प्रबोध चंद्र बागची ने इसे स्वीकार करते हुए इसके लिए प्रयुक्त एक चीनी पर्याय का उल्लेख किया तथा इस संबंध में कई तिब्बती अनुवादों की तुलना कर लेने पर

भी वे इसी परिणाम तक पहुँच सके।[1] परंतु प्रोफेसर स्नेलग्रोव ने 'हेवज्र तंत्र' के ऊपर अपना 'अध्ययन' उपस्थित करते समय 'संधाभाषा' की अपेक्षा 'संध्याभाषा' शब्द को ही पसंद किया[2] तथा लामा अनागरिक गोविंद ने भी अपना मत इसके पक्ष में ही प्रकट किया[3] जिससे इसे बहुत बल मिल गया।

उधर मिर्सिया इलिएड के अनुसार प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ 'सद्धर्म पुण्डरीक' के अंतर्गत 'संधाभाषित', 'संधाभाष्य', 'संधावचन' जैसे शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं और डा० बुर्नोफ़ ने उन्हें 'गूढार्थवाची भाषा' (एनिग्मेटिक लैंग्वेज) कह कर अनुवादित किया है। कर्न ने उनके लिए 'रहस्य' (मिस्ट्री) का प्रयोग किया है तथा मैक्समूलर ने उन्हें 'गुप्तवचन' (हिडेन सेइंग्स) कहा है।[4] किंतु स्वयं इलिएड का ही अन्यत्र कहना है कि "तांत्रिक ग्रन्थ बहुधा 'संध्या भाषा' (इंटेशनल लैंग्वेज=साभिप्राय वा अभिप्रायात्मक भाषा) में लिखे जाते हैं जिसे गुप्त, अन्धकारपूर्ण, द्व्यर्थक भी कह सकते हैं। ऐसी दशा में व्यक्त किया गया अनुभव किसी

१. 'स्टडीज इन तत्र' पृ० २७ एव ७५। दे० 'चर्यागीति कोष' (प्रिफेस) पृ० १२-३ भी।

२. डी० एल० स्नेलग्रोव: दि हेवज्रतत्र: ए क्रिटिकल स्टडी, ओ० यू० पी० पृ० २५।

३. एल्० ए० गोविंद: 'फाउंडेशन आफ टिबेटन मिस्टिसिज्म, राइडर ऐंड कंपनी लंदन, १९५९ ई०, पृ० ५३।

४. 'योग इमार्टलिटी ऐंड फ्रीडम' (रटलेज ऐंड केगनपाल, लंदन सन् १९५४ ई०) पृ० ५०।

शृंगारिक शब्द के माध्यम द्वारा प्रस्तुत किया जाता है जिस कारण, पौराणिक अथवा सृष्टि-विषयक शब्दावली के भीतर भी हठयोगपरक वा यौनसंबंधी अर्थ का प्रकट होने लगना संभव बन जाया करता है[1]।" संध्याभाषा के प्रयोग का यह उद्देश्य है कि किसी सांप्रदायिक विचारधारा को बिना दीक्षा ग्रहण किये व्यक्ति से गुप्त रखा जाय। इस प्रकार विशेष रूप से किसी साधक वा योगी को द्विविधा की स्थिति में ही रखा जाय जो उसके प्रशिक्षण के लिए परमावश्यक भी हो जाता है। तदनुसार हिंदू एवं बौद्ध दोनों ही प्रकार के तांत्रिक साधकों की विशिष्ट प्रक्रिया को सदा गोप्य समझा जाता था और उन्हें इस बात की कभी कोई छूट नहीं दी जाती थी कि वे किसी अदीक्षित व्यक्ति को उसके रहस्य से परिचित होने दें। अतएव, उक्त साभिप्राय अथवा गूढार्थवाची भाषा के प्रयोग का एक यह भी कारण रहा होगा कि उसके द्वारा प्राचीन पंथियों की परंपरागत पद्धति से विरत करके लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया जाय तथा इस प्रकार उसका अधिक-से-अधिक प्रचार भी किया जा सके। ऐसी गुप्त भाषा अथवा रचना-शैली का प्रयोग सर्वप्रथम बौद्धसिद्धों ने ही नहीं किया होगा, क्योंकि जहाँ तक पता चलता है, इसे किसी-न-किसी रूप में अपनाने का कार्य प्राचीन वेद-मंत्रों के रचयिताओं ने भी किया था तथा, जैसा हमने अभी देखा है इसकी चर्चा एवं बौद्धधर्म संबंधी पुराने ग्रन्थों तक में भी की गयी पायी जाती है। वास्तव में इसे

१. वही, पृ० २४६।

दूसरे शब्दों में एक प्रकार की कोई प्रतीकात्मक शैली भी कह सकते हैं जिसकी सहायता पीछे आनेवाले नाथपंथी योगियों तथा संत कवियों तक ने लेना उचित समझा। इसे कोई उतना विशुद्ध साहित्यिक महत्त्व नहीं प्रदान किया जा सकता, किंतु, फिर भी यहाँ पर इसकी कोई उपेक्षा भी नहीं की जा सकती।

चर्यापदों के रचयिताओं में से कम-से-कम दो अर्थात् सिद्ध कण्हपा एवं सिद्ध महीपा ने अपनी-अपनी चर्याओं के अंतर्गत मतवाले हाथी के रूपक द्वारा समरसता की मनःस्थिति का वर्णन बड़ी प्रभावोत्पादक शैली में किया है। उनमें से प्रथम का कहना है कि "एवं कार अर्थात् 'प्रज्ञा' की नाव नाड़ी तथा उपाय की दाहिनी नाड़ी इन दोनों स्तंभों को मोड़कर तथा इस प्रकार विभिन्न बंधनों को छिन्न-भिन्न करके कण्ह 'सहज'वाले कमलिनी वन में प्रवेश कर गया है और वह मतवाले हाथी के समान मदोन्मत्त बन गया है। इसके फलस्वरूप जैसे-जैसे वह करिणी के प्रति आसक्त होता जा रहा है वैसे ही वैसे उससे तथता के रूप में मदस्राव होता भी जान पड़ रहा है। दसों दिशाओं से दशबल रत्न (जिनरत्न) आहृत होता जा रहा है जिसका परिणाम अविद्या करिणी को वश में बिना क्लेश के ही लाना हो सकता है।" सिद्ध कण्हपा के ही शब्दों में :

एवंकार दिढ़ वाखोड़ मोडिउ।
विविह विआपक बान्धन तोडिउ॥

काण्ह विलसअ आसवमाता।
सहज नलिनी वन पइसि निविता॥
जिम जिम करिणा करिणिरेँ रिसअ।
तिम तिम तथता मअगल वरिसअ॥

× × ×

दशबल रअण हरिअ दश दिसें।
अविद्याकरिकुंदम अकिले सें॥—(चर्या ९)

जिसके आधार पर स्थिति का चित्रण बहुत स्पष्ट हो जाता है।

परंतु सिद्ध महीपा ने जो इसका वर्णन अपने ढंग से किया है वह और भी अधिक उल्लेखनीय है। इनका कहना है, "तीनों पाटों अर्थात् काय, वाक् एवं चित्त में एक दूसरे के साथ समरसता के आ जाते ही, अनहद का काला मेघ गर्जन करने लग जाता है जिसे सुनते ही 'मार' भयंकर होता हुआ भी अपनी सारी विषय-परक मंडली के साथ भाग खड़ा होता है। चित्त गजेन्द्र मदोन्मत्त होकर चल पड़ता है तथा वह अविरत रूप में गगन के छोर तक पहुँच कर तुच्छ विकल्पादि को ध्वंस कर देता है। वह पाप एवं पुण्य इन दोनों की ही शृंखला को तोड़ देता है तथा इस प्रकार सभी बंधनों वाले खंभे को भी मोड़ देता हैं और गगन के शिखर तक जाकर वहाँ वह चित्त-निर्वाण में प्रवेश कर जाया करता है। वह सारे त्रिभुवन की उपेक्षा करता हुआ महारस का पान कर मदोन्मत्त बना करता है तथा पंच विषयों के नायकों में से कोई

भी उसका विपक्षी होता नहीं दीख पड़ता। सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से संतप्त होकर वह आकाश-गंगा में प्रवेश कर जाता है जिसके अनंतर मग्न हो जाने के कारण, फिर कुछ भी नहीं दिखायी देता। सिद्ध महीपा वाली चर्या इस प्रकार है :

तिनिएँ पाटें लागेलि रे अणह कसण घण गाजइ।
ता सुनि मार भयङ्कर रे विसअ मण्डल सअल भाजइ॥
मातेल चीअ गएन्दा धावइ।
निरन्तर गअणन्त तुसें घोलइ॥
पाप पुण्ण बेणि तोड़िअ सिकल मोड़िअ खम्भाठाणा।
गअण टाकलि लागेलिरें चित्त पइठ णिवाणा॥
महारस पाणे मातेल रे तिहुअण सएल उएखी।
पञ्च विषअ नायक रे विपथ कोविन देखी॥
खर रवि किरण सन्तापे रे गअणाङ्गण गइ पइठा।
भणन्ति महिआ मइ एथु बुडन्ते किम्बि न दिठा॥

—(चर्या १६)।

जिससे पता चलता है कि इसकी वर्णन-शैली पहिली से कहीं अधिक सशक्त है।

इसी प्रकार चित्त के ही साधारण स्वभाव का भी परिचय तदनुरूप दिया गया पाया जाता है जो भी कम आकर्षक नहीं। सिद्ध भुसुकुपा ने उसकी ऐसी दशा में दीख पड़नेवाली चंचलता के कारण, उसे 'मूसा पवना' कहा गया है जिसे हम इस दृष्टि से 'चित्त पवन' भी कह सकते हैं। उन्होंने इसका वर्णन करते

समय इसके भिन्न-भिन्न व्यापारों का उल्लेख भी बड़े रोचक ढंग से किया है। उनका कहना है "अंधेरी रात के समय अर्थात् अज्ञान की दशा में यह चित्त पवन किसी चूहे के समान अपने चारे वा आहार के लिए निकल पड़ता है। यह अमृत का भक्षण कर लेता है, इस कारण अरे योगी, इस चित्त पवन मूषक को मार डाल जिससे आवा-गमन से तेरी मुक्ति मिल सके। भव-संसृति में आकर यह चूहा दीवारों में बिल बनाया करता है और इसे केवल युक्तियों द्वारा ही किसी प्रकार निष्क्रिय किया जा सकता है। यह चूहा स्वयं कालस्वरूप है, किंतु इसका अपना कोई रंग नहीं है और गगन वा शून्य तक पहुँच कर यह अमृत-पान कर लेता है। यह तभी तक चंचल है जब तक इसे सद्गुरूपदेश द्वारा बोध नहीं हो जाता. इस कारण इसे उसी प्रकार शान्त कर दो। जब इसकी चंचलता दूर कर दी जायगी तभी भुसुकु कहता है कि हमारे बंधन भी आप-से-आप टूट कर नष्ट हो जायँगे।" स्वयं कवि के शब्दों में,

निसि अन्धारी मुसा अचारा।
अमिअ भखअ मुसा करअ अहारा॥
मार रे जोइआ मुसा पवणा।
जेण तुटअ अवणा गवणा॥
भव बिन्दारअ मुसा खणअ गाती।
चञ्चल मुसा कलिआं नाशक थाती॥
काला मुसा उहण बाण।
गअणे उठि करअ अमिअ पाण॥

तब से मुसा उञ्चल पाञ्चल।
सदगुरु बोहे करह सो निच्चल॥
जबें मुसा अचार तुटअ।
भुसुकु भणअ तबे बान्धन फिटअ॥

—(चर्या २१)।

जिसके द्वारा हमारे सामने अपने चंचल चित्त के स्वभाव का एक सजीव चित्रण उसी प्रकार उपस्थित हो जाता है, जिस प्रकार इसके पहले अभी हम उसके समरसता की स्थिति में आ जाने पर मत्त गजेन्द्र की दशा उपलब्ध कर लेने के रूप में देख आये हैं।

परंतु ये सिद्ध कवि केवल उक्त प्रकार से पशु जगत् वाले हाथी, हिरण, चूहे आदि के स्वभाव का ही सुंदर चित्रण नहीं किया करते। इन्होंने वीणा जैसे वाद्ययंत्र, 'नाव' तथा उसके द्वारा यात्रा, मदिरा और उसके सेवन, रूई की धुनाई आदि के भी बड़े स्पष्ट चित्र अंकित किये है। इसके साथ ही इन्होंने प्राकृतिक दृश्यों तथा साधारण स्थिति वाले मानवों का भी परिचय बड़े अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए सिद्ध शबर ने अपनी एक चर्या में शबर एवं शबरी के निवास-स्थान, उनकी रहन-सहन, पारस्परिक प्रेमपरक व्यवहार का जो मनोमोहक चित्र खींचा है। उसे भी हम किसी प्रकार कम उल्लेखनीय नहीं कह सकते, जैसे 'ऊँचे से ऊँचे पर्वत के ऊपर (अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी के सर्वोच्च छोर पर महासुख चक्र में) शबर की बालिका (अर्थात् नैरात्मा) निवास करती है, उसने मयूर-पच्छ वाला

रंगीन पहनावा धारण किया है और उसकी ग्रीवा में गुंज-माला पड़ी हुई है। अरे पागल शबर, तू किसी प्रकार के गुल-गपाड़े न कर तेरी गृहिणी 'सहज सुन्दरी' कहलाती है जिस कारण तुझे किसी प्रकार की कमी नहीं है। अनेक प्रकार के वृक्ष पुष्पित एवं पल्लवित हो रहे हैं और उनकी विभिन्न शाखाएँ बढ़कर आकाश को छू रही हैं और इस पूरे वन-प्रांत के भीतर केवल यह एक मात्र शबरी ही कर्णाभूषण धारण किये हुए भ्रमण कर रही है। इस प्रकार त्रिधातु (अर्थात् काय, वाक् एवं चित्त) की खाट बिछा दी जाती है और शबर महासुख की सेज पर लेट जाता है तथा वह सर्पवत् शबर (अर्थात् चित्त) एवं नैरात्मा एक साथ प्रेम की रात काट ले जाते हैं। शबर अपने जी भर तांबूल खाता है और इसके साथ ही महासुख का कपूर भी ग्रहण करता है तथा शून्य नैरात्मा को अपने गले लगाकर सुखपूर्वक रात व्यतीत कर ले जाता है।" जो उसके लिए सबसे बड़ा अभीष्ट है। मूल पाठ के अनुसार,

ऊँचा ऊँचा पावत तहिं बसइ सबरी बाली।
मोरङ्गि पीच्छ परहिण सबरी गिवत गुञ्जरी माली।
उमत सबरो पागल सबरो, माकर गुली गुहाड़ा तोहोरि।
णिअ घरिणी नामे, सहज सुन्दरी॥
नाना तरुवर मौलिल रे, गअणत लागेलो डाली।
एकेली सबरी ए वण हिंडइ, कर्णकुंडल वज्रधारी॥
तिअ धाउ खाट पडिला, सबरो महासुहे सेजि छाइली।
सबरो भुजङ्ग नैरामणि दारी पेम्ह राति पोहाइली॥

हिअ तांबोला महासुहे कापुर खाइ ।
सुन नैरामणि कंठे लइआ महासुहे राति पोहाइ ॥

—आदि (चर्या २८) ।

यहाँ पर शबर एवं शबरी के उक्त विलासपूर्ण जीवन के विशद चित्र को देखते ही हम उन कुछ प्रसंगों का भी स्मरण आप-से-आप होने लग जाता है, जहाँ पर सिद्ध गुंडरीपा ने अपनी एक चर्या (सं० ४) के अंतर्गत अपनी प्रियतमा योगिनी के साथ रमण करने का वर्णन किया है । उसी प्रकार सिद्ध कण्हपा ने भी अपनी एक चर्या (सं० १०) में अपनी प्रिया डोमिन के प्रेम-पाश में पड़कर अपने को 'निघिण कापालि जोइ लाङ्ग' में भी परिवर्तित कर देने का संकल्प किया है ।

जहाँ तक इन रचनाओं के कतिपय कवियों द्वारा कहीं-कहीं पर 'संध्याभाषा' वा 'संधाभाषा' वाली रचना-शैली के प्रयोग का प्रश्न है इसके वैसे उदाहरण जिन्हें संतों जैसी उलटवाँसी भी कहा जा सके, यहाँ पर केवल दो-चार ही मिल सकते हैं । इनमें से भी कुछ जैसे चर्या २, ११, २० आदि में हम इसे केवल आंशिक रूप में ही प्रयुक्त पाते हैं । शेष में से सिद्ध ढेण्ढणपा की चर्या (सं० ३३) में, संयोगवश, दो-चार ऐसी पंक्तियाँ भी आ गयी पायी जाती हैं जिन्हें हम पीछे संत कबीर की एक रचना में भी अंशतः पाते हैं, किंतु हमें पता नहीं चलता कि ऐसा किस प्रकार संभव हुआ होगा । सिद्ध ढेण्ढणपा ने यहाँ पर कहा है—"मेरा घर टीले पर (अथवा बस्ती के बाहर) अवस्थित है और मेरा कोई पड़ोसी भी नहीं

है, मेरी हाँड़ी में कुछ भी भात नहीं रहा करता, किंतु वे (आने-वाले अतिथि) नित्यप्रति आते ही रहा करते हैं और यह मेंढक-सा संसार सदा बढ़ता ही जाता रहता है (अथवा डा० बागची द्वारा किये गये पाठ के संशोधनानुसार सर्प को मेंढक खदेड़ता ही चला जा रहा है) तो क्या दुहा हुआ दूध फिर कभी थन में लौट आ सकता है ? बैल ने बच्चा दिया है, किंतु गाय बाँझ रह गयी है और उसे तीनों साँझ दुहा जा रहा है। जो कोई बुद्धि वाला है वही निर्बुद्धि है और जो चोर है वही ईमानदार है, प्रति दिन सियार सिंह के साथ जूझता रहा करता है और कोई ऐसा विरला ही होगा जो ढेण्ढणपा के गीत का रहस्य समझ सके।" सिद्ध ढेण्ढणपा की मूल चर्या इस प्रकार है :

टालत मोर घर नाहि पड़वेशी।
हाड़ीत भात नाहि निति आवेशी॥
वेंगस साप वड्ढिल जाअ।
दुहिल दुधु कि बेण्टे समाअ॥
वलद विआअल गविआ बाँझे।
पिटा दुहिअइ ए तिणा साँझे॥
जो सो बुधी सोध निबुधी।
जो सो चोर सोइ साधी॥
निति निति सिआला सिहे सम जुझअ।
ढेण्णपाएर गीत बिरले बुझअ॥

—(चर्या ३३)।

इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि इस चर्या की ५वीं-६ठीं एवं ९वीं-१०वीं पंक्तिया संत कबीर की निम्नलिखित क्रमशः प्रथम एवं द्वितीय पंक्तियों से मिलती दीख पड़ती है और इनमें केवल थोड़ा-सा ही अंतर आ गया जान पड़ता है,

बैल विआइ गाइ भई बाँझ।
बछरहि दूहै तीनिउ साँझ॥

तथा, **नित उठि स्यार सिंघ सौं जूझै।**
कहे कबीर कोई विरला बूझै॥[1]

सिद्ध ढेण्ढणपा की चर्या में जहाँ गाय का ही 'पिटा' (दुग्ध के पात्र) में तीन बार दुहा जाना कहा गया है, वहाँ पर संत कबीर वाले पद में हम बछरे का तीन बार दुहा जाना पाते हैं और इसी प्रकार उक्त दोनों कवियों के नाम भी यथास्थल भिन्न-भिन्न मिलते हैं। 'सन्धाभाषा' का प्रयोग यहाँ (वज्रयानियों के यहाँ) दो प्रकार के गुप्त संकेतों ('चोमा') के रूप में भी किया जाता रहा तथा इनके द्वारा वास्तविक 'जोगी' एवं वास्तविक 'जोगिन' की पहचान भी दिलायी जाती रही और ये 'शारीरिक' एवं 'शाब्दिक' कहे जा सकते थे जैसे यदि कोई दो अंगुलियाँ दिखला देता रहा तो इसका अभिप्राय यह था कि "क्या मैं इसमें सम्मिलित हो सकता हूँ ?"

●

१. कबीर ग्रंथावली (प्रयाग संस्करण) पद १२० पृ० ७१।

चर्यापदों की भाषा

'बौद्धगान दोहा' का संपादन करते समय डा० हरप्रसाद शास्त्री ने उसके 'मुखबंध' के अंतर्गत कहा था कि "मेरा विश्वास है कि जिन लोगों ने यह भाषा लिखी थी वे बंगाल अथवा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों के रहने वाले थे। उनमें से अनेक बंगाली थे जिस बात का प्रमाण भी पाया गया है, यद्यपि उनमें से कई की भाषाओं में कहीं-कहीं व्याकरण-प्रभेद मिल जाता है तथापि ऐसा जान पड़ता है कि यह समस्त बंगला है (तथापि समस्तइ बाङ्गाला बलिया बोध हय)[1]।" डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के अनुसार, इन रचनाओं के प्रस्तुत किये जाने के समय, बंगला काव्य-भाषा का अभी प्रथम विकास आरंभ हुआ था। इस कारण अभी तक इसकी अपनी कोई काव्य-परंपरा स्थिर नहीं हो पायी थी तथा इसीलिए इसे कभी-कभी प्राचीनतर शौरसेनी का भी सहारा लेना पड़ गया। वास्तव में चर्यापदों वाली भाषा पश्चिमी बंगाल की तत्कालीन बोली के अधार पर गठित हुई है, क्योंकि यहाँ पर उसके भी कई रूप मिलते हैं।[2] उन्होंने इन चर्यापदों के अंतर्गत एकाध स्थलों पर 'भणथि' वा 'बालथि' जैसे मैथिली शब्दों के प्रयोगों का भी उल्लेख किया, किंतु इस बात को उन्होंने

१. पृ० ६।

२. ओरिजिन ऐंड डेवलेपमेंट आफ 'बंगाली लैंग्वेज' खंड १ पृ० ११६।

संभवतः केवल अपवाद मात्र मान लिया। उनका निचिश्त मत कदाचित् यही रहा कि "मागधी अपभ्रंश भाषा का एक साहित्यिक भाषा के रूप में सर्वप्रथम व्यवहार उससे उद्भूत बंगला में ही हुआ था।" उन्होंने अपने मत के समर्थन में इन रचनाओं में से कई उद्धरण भी दिये थे। डा० सुकुमार सेन ने भी फिर इस संबंध में कई वैसे उद्धरण 'पद' 'ईडियम ओ प्रवचन' के आधार पर प्रस्तुत किये तथा इसके द्वारा बंगला भाषा के 'शब्द-रूप' 'धातु-रूप' एवं उसकी 'विभक्ति' के वैशिष्ट्य को उदाहृत करने का प्रयास किया जिसे कम उल्लेखनीय नहीं कहा जा सकता। इनका यह भी कहना था कि "सुनीति बाबू ने जिन शब्दों एवं पदों को शौरसेनी अपभ्रंश द्वारा प्रभावित (प्रभावजात) बतलाया है उन पर सूक्ष्म विचार कर लेने पर पता चलता है कि वे सभी अब तक के हैं।...उनका बंगला भाषा के 'जन्मकाल' वे समय न पाया जाना ही विस्मय की बात होगी और इसके कारण चर्यागीतियों की स्वाभाविकता में सन्देह किया जाता।[1]

श्री सत्यव्रत दे नामक एक अन्य बंगला लेखक का तो यह भी कथन है कि "जिस समय इन चर्यागीतियों को लिपिबद्ध किया गया था, उस समय इनके लिपिक लोग अधिकतर शौरसेनी अपभ्रंश के ही जानकार थे जिस कारण उनके प्रमादवश कहीं-कहीं उसका पाया जाना कुछ असंभव नहीं है।[2] इसके सिवाय इन्होंने

---

१. 'चर्यागीति पदावली' (भूमिका) पृ० ४०।

२. 'चर्यागीति परिचय' पृ० २२।

अपने इस मत के समर्थन में कि इन रचनाओं की भाषा वस्तुतः बंगला ही है, अनेक 'निर्भूल' युक्तियों का उल्लेख किया है जिनमें से कुछ को इस प्रकार उद्धृत किया जा सकता है, जैसे (१) शब्द रूप में बंगला भाषा की विशिष्ट विभक्ति अर्थात् तृतीया में 'तें' (ते) का लगाया जाना ('सुख दुखे ते निचित मरिअई'–चर्या १) चतुर्थी में 'रे' (रें) ('सा करउ रस रसानेरे कंखा'–चर्या २२), षष्ठी में 'एर' ('करण कपटेर आस'–चर्या १) तथा सप्तमी में 'त' 'ए' आदि ('साङ्कमत' चडिले–चर्या ५) और (दुहिल दुधु कि बेण्टे समाअ––चर्या ३३) के अनुसार कहा जा सकता है। (२) 'माँझे', 'अन्तरे', 'दिआँ', 'साङ्गे' आदि अनुसर्गों का व्यवहार (३) धातु रूपों में विशिष्ट विभक्ति जैसे भविष्यत् काल की दशा में 'इव', अतीत काल में 'इल्', पूर्वकालिक क्रिया में 'इअ' के प्रयोग (जैसे, क्रमशः––'कान्हु कहिं गइ करिब निवास'–चर्या ७) 'ससुरा निद गेल'–चर्या २) तथा 'माअ मारिआ कान्ह भइल कपाली'–चर्या ११), (४) 'रहने वा 'ठहरने के' अर्थ में 'आछ' अथवा 'थाक' के प्रयोग (जैसे, क्रमशः 'तइसन आछ'–चर्या ३७ और 'गुरु वअण विहारे रे थाकिब तइ घुण्ड कइसे–चर्या ३९) तथा (५) कतिपय विशिष्ट प्रवचनों वा उक्तियों के प्रयोग (जैसे, 'हाथेर कांकाण मा लेउ दापण–चर्या ३२) 'वर सुण गोहाली किमी दुठ बलंदे–चर्या ३९' आदि।[1] फिर इसके अनन्तर इन्होंने चर्यागीतियों वाली भाषा संबंधी अनेक 'व्याकरणगत' विशेषताओं की चर्चा भी की

१. 'चर्यागीति परिचय' पृ० २४।

है तथा उनको 'रूपगत', 'ध्वनिगत' एवं 'वाक्यगत' जैसे शीर्षकों के अंतर्गत लाकर तदनुसार कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।[1]

परंतु उक्त प्रकार से बंगला भाषा के पक्ष का समर्थन करने में यहाँ पर सभी विद्वान् अपना सहयोग प्रदान करते नहीं पाये जाते, प्रत्युत उनमें से कई ने इसके विरुद्ध अपनी असहमति प्रकट की है। कुछ ने अपने-अपने सुझावों के रूप में उक्त स्थान के लिए उड़िया, असमी, मैथिली, मगही वा अंगिका जैसी अन्य भाषाओं के न केवल नाम लिये हैं, अपितु इसके कारणस्वरूप कई बातों का उल्लेख तक भी किया है। उदाहरण के लिए रायबहादुर आर्त्त-वल्लभ महान्ती का कथन है कि "(मैं उपर्युक्त) सहजियागान को प्राचीन उत्कल भाषा और साहित्य के निदर्शन के रूप में पाता हूँ। उन्हें ईसवी सन् छह से दशम शताब्दी तक लुईपाद, कान्हपाद, भुसुकपाद, शबरपाद आदि ने लिखा है। ये सब उत्कलीय थे—यह प्रमाणित हो चुका है। इन गानों की भाषा के साथ आधुनिक उत्कल भाषा का जो साम्य है वैसा अन्य किसी प्रान्त की भाषा के साथ नहीं आदि[2]।" अपने इस मत की पुष्टि में उन्होंने वहीं पर अनेक उदाहरण भी उपस्थित किये हैं। इसी प्रकार डा० कुंज-बिहारी त्रिपाठी ने भी इसके समर्थन में ओड़िया भाषा द्वितीया वाले अनुसर्ग 'कुं' तथा षष्ठी एक वचन संबंधी अनुसर्ग 'र' को क्रमशः कन्ह और शबर की उक्त रचनाओं में (चर्या ९ तथा ५०)

१. वही पृ० २६-३०।

२. 'चतुर्दश भाषा निबन्धावली' (बि० रा० भा० प० पटना) पृ० ७०।

पाकर उनकी पंक्तियों को उद्धृत किया है और इसके लिए 'राउत' जैसे कुछ देशज शब्दों की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।[1] इसके सिवाय एक अन्य ऐसे ही लेखक डा० मायाधर मानसिंह ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि इन रचनाओं में प्रयुक्त बीसियों शब्द ऐतिहासिक परिपेक्ष्य, साधारण खानपान तथा इन चर्याओं की एक विशिष्ट साहित्यिक भावधारा जो आधुनिक समय तक अबाध रूप में प्रवाहित होती आयी है ये सभी निर्भ्रान्त रूप में प्रमाणित करते हैं कि इनमें से अधिकांश की रचना उत्कल में ही हुई होगी। इनका इस संबंध में इतना और भी कहना है कि हो सकता है ये उड़िया में नहीं लिखी गई हों, क्योंकि उस समय तक इसका वैसे रूप में कोई अस्तित्व तक नहीं था, किंतु ठीक यही बात बंगला, असमी आदि के लिए भी तो कही जा सकती है ?[2]

कुछ दिनों पूर्व डा० काकती ने असमी भाषा के स्वरूप एवं विकास के संबंध में अपनी एक पुस्तक लिखते समय सिद्ध कवियों के 'दोहा-कोशों की भाषा के कुछ ऐसे शब्द रूप एवं व्याकरणगत वैशिष्ट्य का अनुसंधान किया था जो आधुनिक असमी के अंतर्गत भी पाये जाते हैं, किंतु जो बंगला अथवा अन्य किसी पूर्वीय भाषा में उपलब्ध नहीं होते[3]। इसी प्रकार डिंबेश्वर नियोग ने चर्यापदों के अंतर्गत असमिया व्याकरण की कुछ विशेषताओं को पाकर लगभग

१. राष्ट्रभाषा रजत जयन्ती अंक (कटक) पृ० ५४-५।
२. हिस्ट्री आफ ओडिया लिटरेचर (नई दिल्ली) पृ० २२।
३. पृ० ९।

वैसा ही अनुमान किया है तथा इसके प्रमाण में उन्होंने ऐसे स्थलों को उद्धृत भी कर दिया है[1]। कतिपय अन्य असमी लेखकों ने भी इस विषय पर अपना मत प्रकट किया है और रायबहादुर के० एल० बरुआ ने अपना प्राचीन कामरूप का इतिहास लिखते समय प्रसंग-वश बतलाया है कि सिद्ध मीननाथ, सिद्ध महीधर एवं सिद्ध दारकिपा संभवतः वहीं के रहे होंगे तथा प्रथम की एक रचना भी ऐसी मिलती है जिसमें असमी-मैथिली के मिश्रित रूप का दर्शन होता है।[2] उधर डा० उमेश मिश्र भी बहुत कुछ इसी बात को दुहराते हुए बतलाते हैं कि "बौद्ध तांत्रिकों के अपभ्रंशमय दोहों और भाषागीत की भाषा मिथिला के पूर्वीय भाग की बोली का प्राचीन रूप है तथा इन्हीं लोगों से पद लिखने की परंपरा भी चली थी।[3]

अंत में जहाँ तक हिन्दी के पक्ष में इस विषय पर लिखने के संबंध में कहा जा सकता है, स्व० राहुल जी सांकृत्यायन ने इसका समर्थन सर्वप्रथम किया था। जहाँ तक पता है, उन्हीं के कदाचित् इसकी ओर सबका ध्यान भी आकृष्ट किया था। उन्होंने सन् १९३३ ई० में प्रकाशित 'गंगा' नाम की पत्रिका के 'पुरा-

---

१. न्यू लाइट आन दि हिस्ट्री आफ असमिया लिटरेचर (गोहाटी) पृ० ५८-६८।

२. 'कहन्ति गुरु परमार्थेर बाट, कर्मकुरंग समाधिक पाट।
कमल विकसिल कहिहणजमरा, कमल मधु पिवित्रि न भमरा॥'
'अर्ली हिस्ट्री आफ कामरूप' (शिलांग) पृ० १५९ पर उद्धृत।

३. 'मैथिली भाषा और साहित्य' (बि० रा० भा० प० पटना) पृ० ५।

तत्त्वांक' में 'महायान बौद्धधर्म की उत्पत्ति', 'मंत्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध' एवं 'मागधी हिन्दी का विकास' जैसे शीर्षकों में अपने तीन लेख लिख डालने के अनंतर एक अन्य 'हिन्दी के प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ' नाम से भी प्रकाशित कराया। इसके द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित करने का यत्न किया कि न केवल सिद्ध गोरखनाथ जैसे नाथपंथी, प्रत्युत रामानंद, कबीर, नानक, दादू आदि से राधास्वामी दयाल तक सभी संत इन्हीं चौरासी सिद्धों के टकसाल के सिक्के थे तथा यह बात बराबर याद रखने योग्य है।[1] उनके अनुसार "सिद्धों की कविता की भाषा ८वीं से १२वीं शताब्दी की भाषा है इसीलिए उसका आपस में भी भेद होना स्वाभाविक है[2]।" परंतु "सर्व पुरातन सिद्ध सरहपाद नालंदा से संबंध रखते थे इसलिए उनकी भाषा का मगही होना स्वाभाविक ठहरा।" इसके अतिरिक्त "वस्तुतः चौरासी सिद्ध नालंदा और विक्रमशील से संबद्ध थे। जब तक नालंदा विक्रमशील को बंगाल में नही ले जाया जाता, तब तक सिद्धों की भाषा भी बंगला नहीं हो सकती। रही भाषा की समानता की बात वह तो मगही और मैथिली से और अधिक है,[3] स्व० राहुलजी का उक्त चौथा लेख फिर औरों के साथ उनकी 'पुरातत्त्व निबंधावली' में भी प्रकाशित हुआ और उसे यहाँ पर 'हिंदी (अपभ्रंश) के प्राचीनतम कवि और कविताएँ' जैसा शीर्षक दिया गया[4]। किंतु जहाँ तक जान पड़ता है,

---

१. पृ० २४२। २. पृ० २४४। ३. पृ० २४५।
४. पृ० १३० (किताब महल, प्रयाग १९५८ ई०)।

उसके वर्ण्य विषय में वैसा कोई परिवर्त्तन नही किया गया जो हमारे लिए यहाँ पर उल्लेखनीय हो सके। उन्होंने यहाँ पर भी कोई इस प्रकार की चेष्टा नहीं की जिसके द्वारा उक्त चर्यागीतियों में उपलब्ध भाषा की विस्तृत अथवा संक्षिप्त भी छानबीन की गयी हो। इस प्रकार उनके मत को असंदिग्ध रूप में स्वीकार कर लेने में कोई हिचक न हो सके। अपनी एक अन्य पुस्तक 'हिंदी काव्यधारा' की 'अवतरणिका' में उन्होंने कुछ ध्यान इस ओर ओर अवश्य दिया है और "अपभ्रंश हिंदी से जरूर अलग भाषा होगी" जैसे भ्रम का समाधान करने तथा "उसे हिंदी से अभिन्न हो गयी है" सिद्ध करने के लिए यहाँ पर भी उन्होंने अधिकतर वैसी ही बातों की चर्चा की है जिन्हें हम हिंदी के ही समान अन्य अनेक प्रांतीय भाषाओं के विषय में भी लागू ठहरा सकते हैं और जो इसी कारण, हिंदी के पक्ष-विशेष का उतना प्रबल समर्थन करती नहीं पायी जाती। अतएव उन्होंने फिर यहाँ तक भी कह डाला है कि "हमारा यह अभिप्राय हर्गिज नहीं है कि यह पुरानी भाषा मराठी आदि की अपनी साहित्यिक भाषा नहीं है। उन्हें भी उसे अपना कहने का उतना ही अधिकार है जितना हिंदी भाषा भाषियों का वस्तुतः ये सारी आधुनिक भाषाएँ बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंश से अलग होती दीख पड़ती हैं[1]।"

वास्तव में स्व० राहुलजी द्वारा प्रकट किये गये उपर्युक्त अंतिम विचार में किसी प्रकार के आग्रह-विशेष का कोई लक्षण नहीं

१. पृ० १२ (किताब महल, प्रयाग १९४५ ई०)।

दीखता जैसा साधारणतः समझ लेने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। उनके इस मत का समर्थन हिंदी के एक अन्य लेखक ने भी इस प्रकार कहते हुए किया है कि आप "अपभ्रंश सभी भाषाओं की बपौती है और यह एक ऐसा क्षेत्र है जिस पर सबका अधिकार–जिसमें सबका अंश है तथा यह एक ऐसा दर्पण है जिसमें उनमें से हर कोई अपना मुँह देख सकता है[1]।" इस कारण वह भी केवल उन्हीं दो-चार सिद्धों (जैसे सरहपा, शबरपा, कण्हपा, धामपा आदि) को 'अंगिका' अर्थात् अंग देश वा व्यापक भागलपुरीय क्षेत्रवाली हिंदी के कविरूप में स्वीकार करता जान पड़ता है जिनका उक्त प्रांत कभी अपना कार्यक्षेत्र रह चुका होगा तथा इसी कारण जिनकी भाषा पर तदनुसार कोई प्रभाव लक्षित होने की की भी संभावना हो सके। स्व० राहुलजी उक्त 'अंगिका-क्षेत्र' को कुछ और भी अधिक व्यापक रूप देकर उसे 'मगही-क्षेत्र' का नाम देते प्रतीत होते हैं जिस कारण उनके द्वारा इन सिद्ध कवियों के 'प्राचीनतम हिंदी-कवि' कहे जाने का प्रमुख आधार भी केवल यही हो सकता है कि उक्त मगही उस मागधी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी है जिसका समय छठी शताब्दी से आरंभ हुआ था तथा जो पीछे अर्थात् बारहवीं शताब्दी के अनंतर प्रधानतः अपने 'देशीय' मगही रूपमें दीख पड़ी। मगध के प्रदेश में किसी समय एक विशाल साम्राज्य प्रतिष्ठित रहा जिसके अधीनस्थ क्षेत्रों की संस्कृति एवं भाषादि का उसके द्वारा प्रभावित होना तथा तद-

१. 'ओरिजिन एंड डेवलेपमेंट आफ दि बंगाली लैंग्वेज' पृ० ९१।

नुसार उनका 'मागधी' जैसे किसी एक शब्द-विशेष के साथ अभिहित किया जाना भी स्वाभाविक था। फलतः मागधी अपभ्रंश का क्षेत्र भी कम विस्तृत नहीं समझा जा सकता था और इसकी परिधि के भीतर कुछ अन्य प्रांतों के वे भाग भी सम्मिलित कर लिए जा सकते थे जो उनके द्वारा न्यूनाधिक प्रभावित रहे। इसके सिवाय, जहाँ तक बौद्धसिद्धों के लिए कहा जा सकता है, वे अपने धर्म से बौद्धधर्म के अनुयायी रहे जिसके अनेक मठ (बिहार) बिहार प्रांत में अवस्थित थे ओर इसके साथ ही उसमें नालंदा, विक्रमशील जैसे कई शिक्षा-केन्द्र भी वर्त्तमान थे जिनके साथ उनमें से कई का संबंध था। ऐसी दशा में इस बात की और भी अधिक संभावना थी कि चाहे उनमें से बहुत से विभिन्न दूरवर्ती प्रांतों से भी वहाँ आये हों, उन्हें कुछ काल तक उक्त स्थानीय वातावरण में निवास करना भी पड़ जाय।

इस दृष्टि से विचार करते समय हमें ऐसा लगता है कि जिन चर्या-कवियों का परिचय हम इसके पूर्व दे आये हैं उनमें से न केवल वे ही जो उक्त क्षेत्र के निकटवर्ती प्रदेशों में जन्म-ग्रहण कर चुके थे, प्रत्युत वे भी जो दूरस्थ प्रांतों से यहाँ आ गये थे, किसी एक भाषा-विशेष एवं रचनाशैली-विशेष को भी अपना सकते थे तथा उनकी संख्या भी कम न थी। इसके सिवाय, यदि इस बात को भी पूर्ण समर्थन मिल जा सके कि सिद्ध सरहपा आदिसिद्ध रहे तथा इसके साथ ही, इसे किसी ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार कर लिया जा सके कि उनका प्रत्यक्ष एवं दीर्घव्यापी संबंध उक्त

सीमित क्षेत्र के साथ रहा और यहाँ पर संगृहीत चर्याएँ भी अवश्य उन्हीं की हो सकती है तो इस प्रकार का अनुमान कर लेना भी सरल हो जाता है कि उनके सहयोगियों एवं अधिकांश परवर्त्ती चर्या-रचयिताओं ने भी संभवतः उन्हीं के आदर्शों को अपनाया होगा। जहाँ तक उनकी अथवा अन्य वैसे कवियों की रचनाओं वाली भाषा के विषय में कहा जा सकता है उसका मागधी अपभ्रंश होना कदाचित् सभी उपर्युक्त लेखकों को एक समान तथा असंदिग्ध रूप में भी मान्य होगा। उनमें पारस्परिक मतभेद केवल तभी आ जाया करता है जब उसे किसी प्रांतीय भाषा-विशेष मात्र के ही प्राचीनतम रूप में देखना चाहते हैं अथवा कम-से-कम इस बात को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने की ओर प्रवृत्त होते हैं। वे अपनी वैसी कल्पना के आवेश में, कदाचित् इस तथ्य की ओर भी कुछ ध्यान देना नहीं चाहते कि जिन-जिन वैसी देशीय भाषाओं के पक्ष का वे सप्रमाण समर्थन करने पर तुले हुए हैं उनका उस समय कोई पृथक् अस्तित्व था भी वा नहीं जिस युग (अर्थात् ८वीं से लेकर १२वीं शताब्दी के भीतर) इन चर्याओं का रचा जाना समझा जाता है। यहाँ पर हमने उन सिद्धों के युग को अधिक-से-अधिक विस्तृत काल में व्याप्त मानकर दिखलाया गया है जिसे कुछ संकुचित भी किया जा सकता है। इस बात में कदाचित् कोई भी संदेह प्रकट नहीं किया जा सकता कि इन चर्याओं के रचयिताओं में से सबसे अंत में आनेवाले भी कदाचित् सन् १२०० ईसवी क्या, सन् ११०० ईसवी तक के भी पहले ही रह चुके होंगे।

आश्चर्य तो यह है कि जिन विद्वानों को हम किसी-न-किसी प्रांतीय भाषा-विशेष का इस संबंध में पक्ष ग्रहण करते पाते हैं उनमें से भी अधिकांश ने इस बात को प्रायः स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि उक्त युग वस्तुतः अपभ्रंश का ही रहा और वही भाषा मराठी, शौरसेनी अथवा अर्द्धमागधी वा मागधी के रूपों में सब कहीं प्रचलित रही। स्व० राहुल जी तथा एक अन्य हिन्दी लेखक के मतों का उल्लेख हम इसके पहले कर आये हैं। इसी प्रकार डा० चाटुर्ज्या ने भी बतलाया है कि "हुएनसंग की साक्षी के अनुसार सातवीं शताब्दी के मध्यकाल में यहाँ पर केवल एक ही भाषा थी जो बिहार, बंगाल एवं पश्चिमी असम प्रदेश में भी बोली जाती रही"।[1] फिर "९वीं-१२वीं शताब्दी के अंतर्गत शौरसेनी अपभ्रंश प्रायः संपूर्ण उत्तरी भारत में प्रचलित रही और उसे संभवतः एक ऐसी राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त रहा जो प्रत्येक प्रकार की काव्य-रचना के लिये भी उपयुक्त थी"[1] और उन्होंने यहाँ तक भी स्वीकार किया है कि "भौगोलिक स्थिति, भाषावैज्ञानिक प्रमाण, परंपरा एवं इतिहास, ये सभी एक साथ इस बात को प्रमाणित करते हैं कि आर्य भाषा बंगाल की ओर बिहार प्रदेश की दिशा से किसी एक बाढ़ के प्रवाह रूप में पहुँची थी"[2] जिस कारण हम उसमें आ गई स्वरूपगत भिन्नता की कभी कल्पना नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त जहाँ तक बंगला-भाषा एवं असमी-भाषा-संबंधी

१. वही, पृ० ११३।
२. ओरिजिन ऐंड डेवलेपमेंट आफ बेंगाली लैंग्वेज पृ० ६०।

किसी एक ही उद्गम के लिये कहा जा सकता है, स्वयं डा० सेन को भी यह बात स्वीकृत है कि "इस दूसरी के बोलने वालों के दावे को हम किसी प्रकार 'अयौक्तिक' (युक्ति-विरुद्ध) नहीं ठहरा सकते, क्योंकि १६वीं शताब्दी तक इन दोनों भाषाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं रहा[1]।" इस प्रकार हमें ऐसा लगता है कि मगही और अंगिका जैसी बिहारी बोलियों, बंगला एवं असमी तक के मूल रूप का एक और अभिन्न होना संभवतः सरलतापूर्वक सिद्ध किया जा सकता है और यदि उस आधारभूत भाषा को हम केवल 'मागधी अपभ्रंश' का नाम दे सकें तो, ऐसा करना अनुचित भी नहीं कहला सकता। इसी प्रकार उड़िया भाषा के पक्ष में अपना मत प्रकट करने वाले कुछ लेखकों ने चर्यागीतियों से विभिन्न अवतरण देकर यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि उसका साहित्यिक उड़िया में अनुदित रूप अधिक भिन्न नहीं प्रतीत होता।[2] जिससे अनुमान किया जा सकता है कि इस भाषा का भी मूल रूप कदाचित् उक्त मागधी अपभ्रंश से अभिन्न ही रहा होगा। अतएव यह असंभव नहीं कि इन चर्यापदों की भाषा उस मूल 'मागधी अपभ्रंश' का ही प्रतिनिधित्व करती हैं और यही कारण है कि इसके पुराने व्यापक क्षेत्र में विकास पाने वाली उक्त सभी भाषाएँ हैं जो आज उसे स्वभावतः अपनाना चाहती हैं।

●

१. 'चर्यागीति पदावली' (भूमिका) पृ० ३९।
२. 'राष्ट्रभाषा रजत जयन्ती ग्रंथ (कटक) पृ० ५५।

छंद-योजना एवं गीति-तत्त्व

'चर्या' शब्द के साथ प्रयुक्त किये जाने वाले 'पद' अथवा 'गीति' जैसे शब्दों के विषय में विचार करते समय हमने देखा था कि इन दोनों में से किसी एक को चुन लेने के संबंध में भी विभिन्न लेखकों के बीच कुछ मतभेद हो गया जान पड़ता है। इन रचनाओं का अध्ययन करते अथवा इन पर अपने विचार प्रकट करते समय इनके संग्रह को मणीन्द्र मोहन वसु और अतीन्द्र मजुमदार जैसे कुछ लोगों ने जहाँ 'चर्यापद' नाम द्वारा अभिहित किया है, वहाँ डा० सुकुमार सेन तथा सत्यव्रत दे जैसे कुछ दूसरों ने उसे 'चर्या-गीति' नाम देना ही अधिक उचित समझा है। डा० सेन ने तो इतना और भी कह डाला है कि ये 'चर्यागीत' केवल 'चर्यागीति' ही कहे जा सकते हैं, इन्हें हम 'चर्यापद' नहीं कह सकते, क्योंकि इस दूसरे के द्वारा उनका 'द्विपदी' होना सिद्ध होगा[1]।" इस कारण इन्होंने, जहाँ पर स्व० शास्त्री द्वारा उपलब्ध किए गये 'चर्याश्चर्य-विनिश्चय' का परिचय दिया है, वहाँ पर भी कहा है कि "उक्त संग्रह के अतर्गत ४ प्रकार की रचनाएँ क्रमशः 'चर्यागीत' वा 'चर्यागीति', 'चर्या-द्विपदियाँ, 'वज्रगीतियाँ' तथा 'प्रहेलिकाएँ' पायी जाती हैं जिनमें से द्वितीय वर्ग अथवा केवल द्विपदियों वाली रचनाओं को ही हम चर्यापद जैसा नाम दे सकते हैं[2]।" शेष के

---

१. 'ओल्ड बेंगाली टेक्स्ट्स' पृ० ४०।

२. वही, पृ० ३८।

लिए ऐसा करना ठीक नहीं है, तदनुसार अपनी एक ऐसी ही संग्रह-पुस्तिका ('ओल्ड बेंगाली टेकस्ट्स) को व्यवस्थित रूप देते समय उन्होंने उक्त प्रथम वर्ग वाली रचनाओं का संपादन जहाँ 'चर्या-गीतिकोष' कहकर किया है, वहाँ तीसरे वर्ग वाली 'वज्रगीति' एवं चौथे वर्ग वाली 'प्रहेलिका' की ही भाँति द्वितीय वर्ग वाली कृतियों को भी 'चर्यापद' का नाम देकर उन्हें उन सबसे पृथक् कर दिया है। परंतु, यदि इन्हें (इन चर्यापदों को) हम डा० सेन के अनुसार द्विपदी 'कापुलेट' जैसी संज्ञा भी प्रदान करने लगे तो इसकी कोई सार्थकता सिद्ध नहीं होती। 'द्विपदी' शब्द से जहाँ दो पदों (चरणों) वाली किसी रचना का ही बोध होता है, वहाँ 'पद' के लिए भी ऐसा कोई सीमित नाम नहीं दे सकते तथा डा० सेन ने इन्हें चुनते समय स्वयं भी एक ऐसा उदाहरण (सं० ५३) दे दिया है जिसमें वैसे पद आये हैं।[1] अतएव 'चर्यापद' में किये गये 'पद' शब्द के प्रयोग को यहाँ पर हमारा पद = चरण के अनुसार आधारित मान लेना उतना उचित न होगा।

'पद' शब्द का उक्त प्रयोग, वहाँ पर वस्तुतः किसी प्रकार की गेय रचना के लिए किया गया जान पड़ता है। जहाँ तक पता चलता है संस्कृत साहित्य में 'पद' शब्द का इस विशिष्ट अर्थ में किया गया कोई अधिक प्राचीन प्रयोग नहीं मिलता। परंतु, फिर भी इसकी परंपरा हमें कम पुरानी नहीं जान पड़ती। कहते है कि 'पदम्' शब्द का कोई एक ऐसा ही प्रयोग, प्राचीन तमिल-

१. दे० 'ओल्ड बेंगाली टेक्स्ट्स' पृ० ३०।

साहित्य में किया गया पाया जाता है जो प्रत्यक्षतः प्रशंसात्मक रचनाओं के लिए मिलता है। इसके सिवाय स्व० शास्त्री के इस कथन द्वारा भी कि 'चर्याश्चर्यविनिश्चय' के अंतर्गत कतिपय कीर्त्तन के गान हैं और उनकी संस्कृत टीका है। ये गान वैष्णवों वाले कीर्त्तनों के समान हैं और इनका नाम 'चर्यापद' है[1]।" इससे हमें यही सूचित होता है कि 'पद' एवं 'गान' कही जानेवाली रचनाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है और इनकी ऐसी समानता इनमें गेयत्व का गुण पाये जाने के ही कारण होगी। जो हो, इन चर्यापदों की गठन-पद्धति पर विचार करते समय हमें ऐसा लगता है कि इनकी रचना संस्कृत वाले वर्ण वृत्तों का कोई अनुसरण नहीं करती, प्रत्युत वह मात्रिक वृत्तों वाले नियमों के ही अनुसार की गयी है। इन मात्रिक वृत्तों में से यहाँ पर हमें प्रधानतः पादाकुलक, पज्झटिका, पद्धड़ी एवं चौपई छंदों को अपनाया गया जान पड़ता है। इनकी पंक्तियाँ समतुकांत रहा करती है जिनमें लय की ओर भी ध्यान दिया गया प्रतीत होता है तथा इसके साथ-साथ इनमें उस देशी संगीत की पूरी गेयता भी आ गयी जान पड़ती है जिसे कभी अपभ्रंश भाषा के अंतर्गत, सीधे लोक-जीवन से ग्रहण करके आत्मसात् करा लिया गया था। इसके सिवाय हमें यहाँ पर यह भी देखने को मिलता है कि इन चर्यापदों के पहले राग-निर्देश कर दिया गया है, इनकी दूसरी पंक्तियों को साधारणतः 'ध्रु' अथवा 'ध्रुवक' ठहराया गया है तथा इनमें

१. 'बौद्धगान ओ दोहा' (मुखबंध) पृ० ४।

अंत तक कहीं-न-कहीं, इनके रचयिताओं का नाम भी ला दिया गया है। इस प्रकार हमें यहाँ पर प्रायः वे सारी बातें मिल जाती हैं जो मध्ययुगीन पदों की विशेषता समझी जा सकती हैं।"[1] इस प्रकार की रचना-शैली-परंपरा पहले उतनी स्पष्ट नहीं जितनी वह मध्यकालीन पदों के संबंध में दीख पड़ी। डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने भी इन चर्यासंज्ञक रचनाओं की चर्चा करते समय इस संबंध में यही कहा है कि "प्राचीन बंगला में प्रांतीय भाषा अथवा अपभ्रंश वाली द्विपदियों (कापुलेट) को 'पद' की संज्ञा दी गयी पायी जाती है जैसा कि इन चर्याओं वाली संस्कृत टीका से भी स्पष्ट है"[2] तथा इसके भी अनुसार इनके केवल दो पदों वा चरणों मात्र वाली होने का समर्थन होता नहीं जान पड़ता। संस्कृत वाले काव्यशास्त्र के विषय में जो भी कहा जा सके, जहाँ तक संगीत एवं नाटकों के लिए प्रस्तुत की गयी इस प्रकार की रचनाओं के लिए कहा जा सकता है, इनका 'पद' कहलाया जाना बहुत पुराने समय से ही सिद्ध किया जा सकता है, जैसा कि 'नाट्य-शास्त्र' में दी गयी इसकी परिभाषा 'अक्षरकृत गेय वस्तु को 'पद' कहते हैं'[3] से भी प्रमाणित है।

---

१. 'मीराँबाई की पदावली' (सं० परशुराम चतुर्वेदी, हि० सा० सम्मेलन प्रयाग, १९६४ ई०) पृ० २४५-६।

२. 'ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट आफ बें० लैंग्वेज' पृ० २८८।

३. 'यत्किञ्चित् अक्षर कृतं, तत्सर्वं पद संज्ञितम्'।
निबद्धानिबद्धञ्च तत्पदं द्विविध स्मृतम्'॥ (अध्याय ३२)।

इन चर्यापदों में दीख पड़ने वाले छंदों के संबंध में हम साधारण प्रकार से कह सकते हैं कि ये तीन श्रेणियों के हैं। इनमें से अधिकांश के अंतर्गत पादाकुलक, पञ्झटिका, पद्धड़ी एवं चौपई के प्रयोग हुए हैं जैसा इसके पहले कहा चुका है। इनमें से 'पादाकुलक' छंद को वर्णवृत्तों में स्थान देते हुए इसे 'शशिकला' भी कहा गया मिलता है जिसमें चारों चरणों के अंतर्गत छह-छह वर्णों की आवृत्ति की गयी पायी जाती है[1] जो यहाँ पर सब कहीं एक समान उपलब्ध नहीं है और न यहाँ पर यही जान पड़ता है कि उनमें से प्रत्येक की मात्रा की गणना करने पर वह केवल आठ-आठ की ही सिद्ध की जा सकेगी। उदाहरण के लिए,

काआ तरुवर पञ्च वि डाल।
चञ्चल चीए पइठा काल—आदि (चर्या १)।

अथवा, **ससुरा निंद गेल बहुड़ी जागअ।**
कानेट चौरे निल कागइ मागअ॥
—आदि(चर्या २)।

शेष उक्त तीन (अर्थात् पञ्झटिका, पद्धड़ी एवं चौपई) तो मात्रिक छंद कहलाकर ही प्रसिद्ध हैं तथा उसी प्रकार ये चर्याएँ भी गेय रचनाओं के ही रूपों में निर्मित की गयी है। किंतु यहाँ पर भी हमें उनके प्रचलित १६-१६ मात्राओं वाले नियम की कोई निश्चित पाबंदी नहीं पायी जाती, इसी प्रकार जहाँ तक उपर्युक्त

१. 'छंदःप्रभाकर' (ले० साहित्याचार्य जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' कवि) विलासपुर, सन् १९१५ ई०, पृ० १६१।

द्वितीय श्रेणी वाली २६ मात्राओं की चर्याओं के लिए कहा जा सकता है, इनके उदाहरण हमें विशेषकर १४, १५, १८, २३, २९, ४१, ४३ एवं ५० संख्यक चर्यापदों में मिलते हैं। इनमें से प्रत्येक में कोई-न-कोई त्रिपदियाँ भी पायी जाती हैं; जैसे,

राउतु भणइ कट, भुसुकु भणइ कट, सअला अइस सहाव।
जइतो मूढ़ा, अच्छसि भांती, पुच्छतु सद्गुरु पाव॥

—(चर्या ४१)।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के छंद का एक सुंदर उदाहरण हमें सिद्ध सरहपा के 'दोहाकोश' में भी मिलता है, जैसे,

घरवइ खज्जइ, सहजें रज्जइ, किज्जइ राअ विराअ।
णिअ पास बइट्ठी, चित्ते भट्ठी, जोइणि महु पडिहाअ॥८५॥

अंत में उपर्युक्त तृतीय श्रेणी वाली चर्याओं के उदाहरणों में हमें केवल तीन ही मिलती है जो १६, १८ एवं ३४ संख्यक हैं। इन तीनों के साथ द्वितीय श्रेणी वाले उदाहरणों की तुलना करने पर पता चल सकता है कि उनमें जहाँ हम किन्हीं त्रिपदियों का मेल बिठा लेते हैं, वहाँ पर हमें इसका कोई अवसर मिल पाता; जैसे,

खर रवि किरण संतापें रे, गअणाङ्गण गइ पइठा।
भणन्ति महिआ मइ एथु, बुडंते किम्बि न दिठा॥

—(चर्या १६)।

जहाँ पर नियमतः १४ एवं १२ पर विराम-स्थल पाये जा सकते हैं। एक अन्य निम्नलिखित चर्या में इसका एक और भी उदाहरण कुछ अधिक स्पष्ट लक्षणों का दिया जा सकता है; जैसे,

किंतो मंते, किंतो तंते। किंतो रे झाण वखाणे ॥

—(चर्या ३४)।

ये चर्या-रचनाएँ केवल गेय ही नहीं समझी जातीं, प्रत्युत इन्हें विभिन्न नामों वाले रागों के अंतर्गत दिया गया भी पाया जाता है। इस प्रकार यहाँ जिन राग वा रागिनियों के नाम लिये गये हैं वे इन रूपों में हैं—(१) पटमञ्जरी (२) गवंड़ा (३) अरुण (४) गुञ्जरी (५) देवश्री (६) देशाख (७) भैरवी (८) कामोद (९) धनसी (१०) रागश्री (११) गउड़ा (१२) बराड़ी (१३) बड़ारी (१४) इन्द्रताल (१५) शीवरी (१६) बलाड्डि (१७) मल्लारी (१८) मालशी (१९) मालशी गवुड़ा (२०) कन्हु गुज्जरी (२१) बंगाल और (२२) शबरी जिनमें से (२) एवं (११), (४) एवं (२०) और (१२) एवं (१६) को सत्यव्रत दे ने एक ही राजा का क्रमशः भिन्न-भिन्न रूप मान लिया है जिससे उक्त संख्या केवल १९ तक ही सीमित हो जाती है। इनमें से भी राग पटमञ्जरी के उदाहरण यहाँ पर सबसे अधिक अर्थात् १२ तक मिलते हैं और शेष में से अधिकांश एक-एक तक ही हैं। इन राग-नामों को देखने से पता चलता है कि इनमें से कई एक आज तक भी प्रसिद्ध हैं, किंतु कुछ के नाम प्रचलित नहीं है और यह हो सकता है कि आजकल उनके कोई-न-कोई नामान्तर ही प्रयुक्त हो रहे होंगे। चर्याओं के कवियों ने इनमें 'ध्रु' अथवा 'ध्रुवक' संज्ञक पंक्तियों के निर्देश द्वारा यह स्पष्ट संकेत कर दिया है कि ये 'गान की चीजें' हैं, यद्यपि इन सभी की रचना-

शैली एवं ह्रस्व-दीर्घादि के प्रयोगों तथा विराम-स्थलों पर नियमित ढंग से विचार कर लेने पर ठीक-ठीक यही धारणा नहीं हो पाती। जिस प्रकार यहाँ, इनमें पायी जाने वाली मात्राओं की न्यूनाधिक संख्या यतिभंग दोष अथवा अन्त्यानुप्रास की अव्यवस्था-संबंधी त्रुटियों के आ जाने से हमें इन्हें किसी-न-किसी छंद-विशेष में रखते समय कुछ हिचक होने लगती है, उसी प्रकार हम बहुधा, किसी निश्चित राग के अंतर्गत इन्हें लाते समय भी कुछ-न-कुछ सोचने-समझने लग जाते हैं। परंतु, यदि केवल इतना भी स्वीकार कर लिया जाय कि उक्त कवियों में से अधिकांश, त्रुटिपूर्ण प्रतिलिपि अथवा पाठभेदादि के कारण आ गयी होंगी अथवा इनकी रचना करते समय कदाचित्, प्रचलित लोकगीतों की किन्हीं विशिष्ट परंपराओं का भी अनुसरण किया गया होगा जो अब तक लुप्त हो चुकी हैं तो, इनके महत्त्व को किसी प्रकार की आँच लगती नहीं प्रतीत होती। इस प्रकार की संभावनाओं की ओर ध्यान देने पर इन रचनाओं के उचित मूल्य का निर्धारण कुछ सरल भी हो जा सकता है।

उपसंहार

इस प्रकार इन उपलब्ध एवं प्रकाशित चर्यापदों के विषय में एक संक्षिप्त पर्यवेक्षण करने पर हमें पता चलता है कि ये उन बौद्ध-सिद्धों की कृतियाँ है जिनके आविर्भाव-काल का अनुमान लगभग ८वीं ईसवी शताब्दी से लेकर उसकी १२वीं शताब्दी के भीतर किया जा सकता है और जिनका वज्रयानी वा सहजयानी कहलाना भी प्रसिद्ध है उनके ऐतिहासिक वृत्त अथवा व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं के संबंध में हमें प्रायः कुछ भी विदित नहीं और अभी तक जो भी कुछ बातें हमें ज्ञात हो सकी हैं उनका विवरण भी बहुत कुछ पौराणिक अथवा अनुमानाश्रित-सा ही लगा करता है जिन पर पूरा विश्वास कर लेना हमारे लिए तर्क-संगत नहीं प्रतीत होता। उनमें आये हुए अधिकांश प्रसंग मानो हमें अतिशयोक्तिपूर्ण अथवा चमत्कारों से भरे जान पड़ते हैं और वे बहुत-कुछ निराधार से भी लगते हैं। फिर भी, उनसे संबद्ध सामग्रियों की छानबीन कर लेने पर हमें ऐसा जान पड़ता है कि उन बौद्ध-सिद्धों में से कई महान् पण्डित और आचार्य कोटि में रहे होंगे। उन्होंने इन चर्याओं के अतिरिक्त अन्य कई रचनाएँ संस्कृत में भी निर्मित की होंगी तथा उनमें से कुछ की शिष्य-परंपराएँ भी बहुत दिनों तक चलती रही होंगी। इसके सिवाय हम उक्त प्रकार से इस परिणाम तक भी पहुँचते हैं कि उनमें से अनेक ने सुदूरवर्ती क्षेत्रों में जन्म-ग्रहण किया होगा, किंतु वे पीछे इधर आ गये होंगे। इन उपलब्ध एवं प्रकाशित रचनाओं की संख्या केवल ५०-५१ से

ऊपर नहीं जाती और इन्हें देखने से ऐसा जान पड़ता है कि इन्हें संभवतः कहीं से चुनकर भी संगृहीत कर लिया गया होगा। प्रायः इन्हीं जैसी बहुत-सी अन्य चर्याओं के इधर पाये जाने का भी पता चला है, किंतु उन्हें अभी तक प्रकाश में नहीं लाया जा सका है। इस कारण कहा नहीं जा सकता कि उनमें से कितनी उक्त बौद्ध-सिद्धों की होंगी तथा शेष की रचना कब और किनके द्वारा की गयी होगी। हो सकता है कि उन सभी के प्रकाशित हो जाने पर हमें अभी तक पर्यालोचित चर्याओं के विषय में भी कुछ अधिक ज्ञात हो सके। तब तक हम केवल इतना ही कह पाने की स्थिति में हैं कि, जैसा हम पहले भी कह आये हैं, इनकी रचना-शैली मध्यकालीन पदों जैसी है। इनकी भाषा प्रत्यक्षतः मागधी अपभ्रंश के नाम से अभिहित की जा सकती है तथा इनका वर्ण्य विषय प्रधानतः बौद्धसिद्धों की सांप्रदायिक मान्यताओं और उनकी प्रमुख साधनाओं से संबद्ध है। इनके अंतर्गत बहुत-सी ऐसी बातों का भी प्रसंगवश, समावेश हो गया है जिन्हें हम सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से विचार करते समय भी उनके तत्कालीन प्रचलित रूपों के दृष्टांतस्वरूप महत्त्व दे सकते हैं, यद्यपि वे सब कहीं किन्हीं ऐतिहासिक अथवा सर्वथा प्रामाणिक तथ्यों जैसा मूल्य एवं महत्त्व कभी भी प्रदान नहीं किया जा सकता। परंतु, यदि हम इन रचनाओं का कोई ठेठ साहित्य वा संगीतपरक मूल्यांकन करने लगते हैं उस दशा में हमें इसके लिए इनमें से कम उदाहरण ही ठहर पाते हैं।

फिर भी हमारे लिए इन चर्यापदों को एक विशिष्ट स्थान प्रदान करना अत्यंत आवश्यक भी हो जाता है जिस बात की ओर जान पड़ता है, अभी तक हमारा ध्यान यथेष्ट रूप में नहीं जा पाया है। जैसा हम इसके पहले भी देख आये हैं, हमने आज तक इन रचनाओं को अधिकतर किन्हीं ऐसी सामग्रियों के ही रूप में स्वीकार कर लेने का यत्न किया है जिनके आधार पर हम किसी-न-किसी अपनी प्रांतीय भाषा के मूल रूप की प्राचीनता सिद्ध करते समय इन्हें उसके लिए प्रमाणस्वरूप उपस्थित कर सकें तथा जिनकी किसी-न-किसी व्याख्या द्वारा हम इन्हें अधिक-से-अधिक अपना भी सकें। ऐसे यत्न अभी तक बंगला, उड़िया, असमी, मैथिली, मगही वा अंगिका नाम की भाषाओं के पक्षधरों की ओर से किये गये हैं और वे बहुधा वहाँ तक पहुँच जाते प्रतीत होते हैं जहाँ के लिए उन्हें सर्वथा उपयुक्त एवं औचित्यपूर्ण दृष्टि के अनुसार बहुत कुछ खींचातानी पर आधारित, निरर्थक अथवा हास्यास्पद तक भी ठहराया जा सकता है। थोड़े से भी शब्द-साम्य वा प्रयोग-साम्य के सहारे हम यहाँ पर प्रायः इस प्रकार का भी दावा करते पाये जाते हैं कि इन रचनाओं के अधिकांश का कोई-न-कोई प्रत्यक्ष मूलगत लगाव हमारी अपनी प्रांतीय भाषा-विशेष के साथ अवश्य रहा होगा। कभी-कभी तो हम यहाँ तक भी कथन कर जाते दीख पड़ते है कि किसी अन्य की ओर से ऐसा किया जाना कदाचित्, अनर्गल भी कहलायेगा। इस प्रकार, इनमें से कम-से-कम द्वितीय अंश के अंतर्गत तो कभी-

कभी पक्षपात एवं पूर्वग्रह की गंध तक आने लग जाती है। इसके विपरीत, यदि केवल इतना ही कहा जाय कि इन चर्यापदों की भाषा वस्तुतः प्राचीन 'मागधी अपभ्रंश' का प्रतिनिधित्व करती है तथा इनमें उसका वह रूप सुरक्षित है जिसे उपर्युक्त सभी प्रांतीय भाषाओं का मूलाधार कहा जा सकता है तो ऐसी धारणा के विषय में कदाचित् कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। फलतः, वैसी दशा में इस रचनाओं का महत्त्व, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कहीं अधिक भी बढ़ जा सकता है। इसके सिवाय, यदि हम इनके ऊपर किसी सामान्य साहित्यिक दृष्टिकोण के अनुसार विचार करने लगते हैं तब भी हमें इनके बहुत कुछ महत्त्वपूर्ण कहलाने में कोई संदेह नहीं रह जाता। उदाहरण के लिए इनमें पायी जाने वाली लोकप्रचलित गीत के अनुकरण में निर्मित गेय पदों की रचना-शैली, सामान्य जन-जीवन के आधार पर चुने गये सुलभ प्रतीकों एवं प्रसंगादि की प्रयोग-पद्धति और इसी प्रकार लुप्तप्राय बौद्ध-धर्म के अवशिष्ट प्रभावों को सूचित करने वाली कतिपय मान्यताओं की साहित्यिक अभिव्यक्ति, में कुछ ऐसी बातें हैं जिनकी कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वास्तव में उनमें से अनेक ऐसे संकेत का काम करते हैं जिनसे प्रेरणा ग्रहण करके बौद्धसिद्धों के पर-वर्ती नाथों, संतों, सहजिया वैष्णवों आदि ने भी पीछे अपनी लगभग ऐसी ही रचनाओं का सृजन किया तथा इस प्रकार इसका महत्त्व बढ़ाया।

●

चर्यापद

[मूल]

●

: १ :

[राग पटमञ्जरी लुइपादानाम्]

काआ तरुवर पञ्च वि डाल।
चञ्चल चीए पइठा काल ॥ १ ध्रुवपद ॥

दिढ़ करिअ महासुह परिमाण।
लुइ भणइ गुरु पुच्छिअ जाण ॥ ॥

सअल समाहिअ काहि करिअइ।
सुख दुखे ते निचित मरिअइ ॥ २ ध्रु० ॥

एडिअउ छान्दक बान्ध करण कपटेर आस।
सुनुपाख भिड़ि लेहु रे पास ॥ ३ ध्रु० ॥

भणइ लुइ आम्हे झाणे दिठा।
धमण चमण बेणि पाण्डि बइठा ॥ ४ ध्रु० ॥

: २ :

[राग गवड़ा कुक्कुरीपादानाम्]

दुलि दुहि पिटा धरण न जाअ।
रुखेर तेन्तलि कुम्भीरे खाअ ॥ १ ध्रुवपद ॥

आङ्गण घरपण सुन भो विआती।
कानेट चौरी निल अधराती ॥

सुसुरा निद गेल बहुड़ी जागअ।
कानेट चोरे निल का गइ मागअ ॥ २ ध्रु० ॥

दिवसइ बहुड़ी काउइ डरे भाअ।
राति भइले कामरू जाअ ॥ ३ ध्रु० ॥

अइसन चर्या कुक्कुरी पाएँ गाइड़।
कोड़ि एकु मा झेँ हिअहिँ समाइड़ ॥ ४ ध्रु० ॥

: ३ :

[राग गवडा विरुवापादानाम्]

एक से शुण्डिनि दुइ घरे सान्धअ।
चीअण वाकलअ वारुणी बान्धअ ॥ १ ध्रुवपद ॥

सहजे थिर करि वारुणी सान्धे।
जेँ अजरामर होइ दिढ कान्धे ॥

दशमि दुआरत चिह्न देखइआ।
आइल गराहक अपणे बहिआ ॥ २ ध्रु० ॥

चउशटी घड़िये देल पसारा।
पइठेल गराहक नाहि निसारा ॥ ३ ध्रु० ॥

एक घड़ुली सरुइ नाल।
भणन्ति विरुआ थिर करि चाल ॥ ४ ध्रु० ॥

: ४ :

[राग अरु गुण्डरीपादानाम्]

तिअड्डा चापी जोइणि दे अङ्कवाली ।
कमल कुलिश घाण्ट करहुँ बिआली ॥ १ ध्रुवपद ॥

जोइनि तँइ बिनु खणहिँ न जीवमि ।
तो मुह चुम्बी कमलरस पीबमि ॥

खेपहुँ जोइनि लेप न जाअ ।
मणिकुले बहिआ ओड़िआणे समाअ ॥ २ ध्रु० ॥

सासु घरे घालि कोञ्चा ताल ।
चान्दसुज बेणि पखा फाल ॥ ३ ध्रु० ॥

भणइ गुण्डरी अम्हे कुन्दुरे वीरा ।
नरअ नारी माझेँ उभिल चीरा ॥ ४ ध्रु० ॥

: ५ :

[रागगुर्जरी चाटिल्लपादानाम्]

भवणइ गहण गम्भीर वेगेँ वाही।
दु आन्ते चिखिल मज्झे न थाहो ॥ १ ध्रुवपद ॥

धामार्थे चाटिल साङ्कम गढ़इ।
पारगामि लोअ निभर तरइ ॥

फाड़िअ मोहतरु पटि जोडिअ।
अदअ दिढ टाङ्गी निबाणे कोहि [?ड़ि] अ ॥ २ ध्रु० ॥

साङ्कमत चड़िले दाहिण बाम मा होही।
नियड्डी बोहि दूर मा जाही ॥ ३ ध्रु० ॥

जइ तुम्हे लोअ हे होइब पारगामी।
पुच्छह चाटिल अनुत्तर सामी ॥ ४ ध्रु० ॥

: ६ :

[राग पटमञ्जरी भुसुकुपादानाम्]

काहे रे घेणि-मेलि अच्छहु [ँ] कीस ।
वेढ़िल हाक पड़अ चौदीस ॥ १ ध्रुवपद ॥

अपणा मांसेँ हरिणा वैरी ।
खणह न छाड़अ भुसुक अहेरी ॥

तिण न च्छुपइ हरिणा पिबइ न पाणी ।
हरिणा हरिणीर निलअ न जाणी ॥ २ ध्रु० ॥

हरिणी बोलअ सुण हरिणा तो ।
ए वन च्छाड़ी होहु भान्तो ॥ ३ ध्रु० ॥

तरसँन्ते हरिणार खुर न दीसइ ।
भुसुकु भणइ मूढ हिअहि न पइसइ ॥ ४ ध्रु० ॥

: ७ :

[रागपटमञ्जरी काह्नपादानाम्]

आलिएँ कालिए बाट रुन्धेला।
ता देखि काह्नु विमन भइला ॥ १ ध्रुवपद ॥

काह्नु कहिं गइ करिब निवास।
जो मनगोअर सा उआस ॥

ते तिनि ते तिनि तिनि हो भिन्ना।
भणइ काह्नु भव परिच्छिन्ना ॥ २ ध्रु० ॥

जे जे आइला ते ते गेला।
अवणागवणे काह्नु विमन भइला ॥ ३ ध्रु० ॥

हेरि से काह्नि निअड़ि जिनउर वट्टइ।
भणइ काह्नु मो हिअहि न पइसइ ॥ ४ ध्रु० ॥

: ८ :

[राग देवश्री कम्बलाम्बरपादानाम्]

सोने भरिती करुणा नावी।
रूपा थोइ नाहिक ठावी ॥ १ ध्रुवपद ॥

बाहतु कामलि गअण उवेसे।
गेला जाम बाहुड़इ कइसेँ ॥

खुण्टि उपाड़ी मेलिलि काच्छि।
बाहतु कामलि सद्गुरु पुच्छि ॥ २ ध्रु० ॥

माङ्गत चड़िले चउदिस चाहअ।
केड़ु आल नाहि के कि बाहवके पारअ ॥ ३ ध्रु० ॥

वामदाहिण चापी मिलि मिलि माङ्गा।
वाटत मिलिल महासुख साङ्गा ॥ ४ ध्रु० ॥

: ९ :

[रागपटमञ्जरी काह्नुपादानाम्]

एवंकार दिढ़ बाखोड़ मोड़िउ।
विविह विआपक बान्धन तोड़िउ ॥ १ ध्रुवपद ॥

काह्नु विलसअ आसवमाता।
सहज नलिनीवन पइसि निविता ॥

जिम जिम करिणा करिणिरेँ रिसअ।
तिम तिम तथता मअगल वरिसअ ॥ २ ध्रु० ॥

छड़गइ सअल सहावे सूध।
भावाभाव वलाग न छुध ॥ ३ ध्रु० ॥

दशबलरअण हरिअ दशदिसेँ।
अविद्याकरिकुँ दम अकिलेसेँ ॥ ४ ध्रु० ॥

: १० :

[राग देशाख काह्न पादानाम्]

नगर बाहिरेँ रे डोम्बि तोहोरि कुड़िआ ।
छोइ छोइ जाहि सो ब्राह्मण नाड़िआ ॥ १ ध्रुवपद ॥

आलो डोम्बि तोए सम करिबो मो साङ्ग ।
निघिन काह्न कापालि जोइ लाङ्ग ॥

एक सो पदुमा चौषठी पाखुड़ी ।
तहिँ चड़ि नाचअ डोम्बी बापुड़ी ॥ २ ध्रु० ॥

हालो डोम्बी तो पूछमि सदभावे ।
आइससि जासि डोम्बि काहरि नावेँ ॥ ३ ध्रु० ॥

तान्ति विकणअ डोम्बी अवर ना चांगेड़ा ।
तोहोर अन्तरे छाड़ि नड़ पेड़ा ॥ ४ ध्रु० ॥

तु लो डोम्बी हाउँ कपाली ।
तोहोर अन्तरे मोए घेणिलि हाड़ेरि माली ॥ ५ ध्रु० ॥

सरोवर भाञ्जिअ डोम्बी खाअ मोलाण ।
मारमि डोम्बी लेमि पराण ॥ ६ ध्रु० ॥

: ११ :

[राग पटमञ्जरी कृष्णाचार्यपादानाम्]

नाड़ि शक्ति दिढ़ धरिअ खाटे।
अनहा डमरु बाजइ वीर नादे ॥ १ ध्रुवपद ॥

काह्न कपाली योगी पइठ अचारे।
देह नअरी विहरइ एका (का) रेँ ॥

आलि कालि घण्टा नेउर चरणे।
रवि शशि कुण्डल किउ आभरणे ॥ २ ध्रु० ॥

राग द्वेष मोह लाइअ छार।
परम मोख लबए मुत्तिहार ॥ ३ ध्रु० ॥

मारिअ सासु नणन्द घरे शाली।
माअ मारिआ काह्न भइल कबाली ॥ ४ ध्रु० ॥

: १२ :

[राग भैरवी कृष्णपादानाम्]

करुणा पिहाड़ि खेलहुँ नअबल।
सद्गुरुबोहेँ जितेल भवबल ॥ १ ध्रुवपद ॥

फीटउ दुआ मादेसि रे ठाकुर।
उआरि उएसेँ काह्न निअड़ जिणउर ॥

पहिले तोड़िआ बड़िआ मराडिउ।
गअवरेँ तोडिआ पाञ्चजना घालिउ ॥ २ ध्रु० ॥

मतिएँ ठाकुरक परिनिविता।
अवश करिआ भवबल जिता ॥ ३ ध्रु० ॥

भणइ काह्न अम्हे भाल दान देहुँ।
चउषट्टि कोठा गुणिया लेहुँ ॥ ४ ध्रु० ॥

: १३ :

[राग कामोद कृष्णाचार्यपादानाम्]

तिशरण णावी किअ अठक मारी।
निअ देह करुण शून मेहेरी ॥१ ध्रुवपद॥

तरित्ता भवजलधि जिमकरि माअ सुइना।
माझ वेणी तरङ्ग म मुनिआ ॥

पञ्चतथागत किअ केड़ आल।
बाहअ काअ काह्निल माआ जाल ॥ २ ध्रु० ॥

गन्धपरसरस जइसोँ तइसोँ।
निंद विहुने सुइना जइसो ॥ ३ ध्रु० ॥

चिअ कण्णहार सुणत माङ्गे।
चलिल काह्न महासुख साङ्गे ॥ ४ ध्रु० ॥

: १४ :

[धनसी राग डोम्बीपादानाम्]

गंगा जउना माझेँ रे बहइ नाइ।
तहिँ बुड़िली मातङ्गीपोइआ लीले पार करेइ ॥१ ध्रुवपद॥

बाहतु डोम्बी बाहलो डोम्बी बाटत भइल उछारा।
सद्गुरु पाअपसाएँ जाइब पुणु जिणउरा ॥

पाञ्च केड़ आल पड़न्ते माङ्गे पिठत काच्छी बान्धि।
गअण हुखोलेँ सिञ्चहु पाणी न पइसइ सान्धि ॥ २ ध्रु० ॥

चन्दसूज्ज दुइ चका सिठिसंहार पुलिन्दा।
वामदाहिण दुइ माग न चेवइ बाहतु छन्दा ॥ ३ ध्रु० ॥

कवड़ी न लेइ बोड़ी न लेइ सुच्छड़े पार करइ।
जो रथे चड़िला बाहवा न जाइ कुलेँ कुलेँ बुड़इ ॥ ४ ध्रु० ॥

: १५ :

[राग रामक्री शान्तिपादानाम्]

सअ संवेअण सरुअ विआरेँ अलक्ख लक्ख ण जाइ ।
जे जे उजूबाटे गेला अनाबाटा भइला सोइ ॥१ ध्रुवपद॥

कुले कुलेँ मा होइ रे मूढ़ा उजूबाट संसारा ।
बाल तिल एकु बाकु ण भूलह राजपथ कन्धारा ॥

माआमोह समुदारे अन्त न बूझसि थाहा ।
आगे नाव न भेला दीसइ भन्ति न पुच्छसि नाहा ॥ २ ध्रु० ॥

सूनापान्तर उह न दीसइ भान्ति न वाससि जान्ते ।
एथ अटमहासिद्धि सिझइ उजूबाट जाअन्ते ॥ ३ ध्रु० ॥

बाम दाहिण दो बाटा च्छाडी शान्ति बुलथेउ संकेलिउ ।
घाट ण गुमा खड़तड़ि ण होइ आखि बुजिअ बाट जाइउ ॥ ४ ध्रु० ॥

: १६ :

[राग भैरवी महीधरपादानाम्]

तिनिएँ पाटे लागेलि रे अणह कसण घण गाजइ ।
ता सुनि मार भयङ्कर रे विसअ मण्डल सअल भाजइ ॥ १ध्रुवपद ॥

मातेल चीअ गएन्दा धावइ ।
निरन्तर गअणन्त तुसे घोलइ ॥

पाप पुण्ण बेणि तोड़िअ सिकल मोड़िअ खम्भाठाणा ।
गअण टाकलि लागेलि रे चित्त पइठ णिवाणा ॥ २ ध्रु० ॥

महारसपाणे मातेल रे तिहुअण सएल उएखी ।
पञ्च विसअ नायक रे विपथ कोवि न देखी ॥ ३ ध्रु० ॥

खररविकिरण सन्तापेँ रे गअणाङ्गण गइ पइठा ।
भणन्ति महिआ मइ एथु बुड़न्ते किम्वि न दिठा ॥ ४ ध्रु० ॥

: १७ :

[राग पटमञ्जरी वीणापादानाम्]

सुज लाउ ससि लागेलि तान्ती ।
अनहा दाण्डी एकि किअत अवधूती ॥ १ ध्रुवपद ॥

बाजइ अलो सहि हेरुअ वीणा ।
सुन तान्तिधनि विलसइ रुणा ॥

आलि कालि वेणि सारि सुणिआ ।
गअवर समरस सान्धि गुणिआ ॥ २ ध्रु० ॥

जबे करहा करहकलेँ चापिउ ।
बतिस तान्तिधनि सअल विआपिउ ॥ ३ ध्रु० ॥

नाचन्ति बाजिल गाअन्ति देवी ।
बुद्धनाटक विसमा होइ ॥ ४ ध्रु० ॥

: १८ :

[राग गउडा कृष्णवज्रपादानाम्]

तिणि भुवन मइ वाहिअ हेलेँ ।
हाँउ सुतेलि महासुख लीलेँ ॥ १ ध्रुवपद ॥

कइसनि हालो डोम्बी तोहोरि भाभरीआली ।
अन्ते कुलिण-जण माझेँ कावाली ॥

तँइ लो डोम्बी सअल वि टालिउ ।
काज ण कार ण ससहर टालिउ ॥ २ ध्रु० ॥

केहो केहो तोहोरे बिरुआ बोलइ ।
विदुजन लोअ तोरेँ कण्ठ न मेलइ ॥ ३ ध्रु० ॥

काह्न गाइ तु कामचण्डाली ।
डोम्बीत आगलि नाहि च्छिनाली ॥ ४ ध्रु० ॥

: १९ :

[राग भैरवी कृष्णपादानाम्]

भवनिर्वाणे पड़ह-मादला।
मण-पवण वेणि करण्ड कसाला ॥ १ ध्रुवपद ॥

जअ जअ दुन्दुभि साद उछलिला।
काह्न डोम्बीविवाहे चलिला ॥

डोम्बी विवाहिआ आहारिउ जाम।
जउतुके किअ आणुतु धाम ॥ २ ध्रु० ॥

अहणिसि सुरअ-प्रसङ्गे जाअ।
जोइणि-जाले रअणि पोहाअ ॥ ३ ध्र० ॥

डोम्बीएर सङ्गे जो जोइ रत्तो।
खणइ न छाड़अ सहज उन्मत्तो ॥ ४ ध्र० ॥

: २० :

[राग पटमञ्जरी कुक्कुरीपादानाम्]

हाँउ निरासी खमणभतारे।
मोहोर बिगोआ कहण न जाइ ॥ १ ध्रुवपद॥

फिटलेसि गो माए अन्तउड़ि चाहि।
जा एथु चाहाम सो एथु नाहि ॥ ध्रु० ॥

पहिल बिआण मोर वासन-पूड़ा।
नाड़ि बिआरन्ते सेव बापूड़ा ॥ २ ध्रु० ॥

जा ण (अ) जौवण मोर भइलेसि पूरा।
मूल निखणि बाप संघारा ॥ ३ ध्रु० ॥

भणथि कुक्कुरीपा ए भव थिरा।
जो एथु बूझइ सो एथु बीरा ॥ ४ ध्रु० ॥

: २१ :

[राग वराड़ी भुसुकुपादानाम्]

निसि अन्धारी मुसा अचारा।
अमिअ भखअ मुसा करअ अहारा ॥ १ ध्रुवपद ॥

मार रे जोइआ मुसा पवणा।
जेण (ण) तुटअ अवणा-गवणा ॥

भव-बिन्दारअ मुसा खणअ गाती।
चञ्चल मुसा कलिआँ नाशक थाती ॥ २ ध्रु० ॥

काला मुसा उह ण बाण।
गअणे उठि करअ अमिअ पाण ॥ ३ ध्रु० ॥

तब से मुसा उञ्चल पाञ्चल।
सद्गुरु बोहे करह सो निच्चल ॥ ४ ध्रु० ॥

जबेँ मुसा अचार तुटअ।
भुसुकु भणअ तबे बान्धन फिटअ ॥ ५ ध्रु० ॥

: २२ :

[राग गुञ्जरी सरहपादानाम्]

अपणे रचि रचि भवनिर्वाणा।
मिछे लोअ बन्धावए अपणा ॥ १ ध्रुवपद ॥

अम्हे ण जाणहु अचिन्त जोइ।
जाम मरण भव कइसन होइ ॥

जइसो जाम मरण वि तइसो।
जीवन्ते मइलेँ नाहि विशेसो ॥ २ ध्रु० ॥

जा एथु जाम मरणे विसङ्का।
सा करउ रस रसानेरे कङ्का ॥ ३ ध्रु० ॥

जे सचराचर तिअस भमन्ति।
ते अजरामर किम्पि न होन्ति ॥ ४ ध्रु० ॥

जामे काम कि कामे जाम।
सरह भणति अचिन्त सो धाम ॥ ५ ध्रु० ॥

: २३ :

[राग बड़ारी भुसुकुपादानाम्]

जइ तुम्हे भुसुकु अहेरि जाइवेँ मारिहसि पञ्चजणा ।
नलिणीवन पइसन्ते होहिसि एकुमणा ॥१ध्रुवपद॥

जीवन्ते भेला विहाण मएल रअणि ।
(ग) हणविणु माँसे भुसुकु पद्मवन पइसहिलि ॥

माआजाल पसरिउ रे बाँधेलि माआहरिणी ।
सद्गुरुबोहेँ बुझिरे कासु कहिणी ॥ २ ध्रु० ॥

: २४ :

[राग इन्द्रताल कृष्णाचार्यपादानाम्]

पूर्णचन्द्र उदयति यदा ।
चित्तराजो विमलो भवति तदा ॥ १ ध्रुवपद ॥

मोहमलं छिन्नं गुरूपदेशेन ।
विषयेन्द्रियं गगनमुपेतं ॥

खसमबीजं यत् खसमं याति ।
आत्मवृक्षस् त्रिधातुषु वितनोति च्छायां ॥ २ ध्रु० ॥

यथा उदिते सूर्ये रात्रिर्व्यपयाति ।
(तथा) भवसमुद्रमोहरजो दूरीभवति ॥ ३ ध्रु० ॥

राजहंसो तथा जलं विविनक्ति ।
भवं भुक्ष्व (तथा) इति कथयति कृष्णपादः ॥ ४ ध्रु० ॥

: २५ :

[गीतिस् तन्त्रीपादानाम्]

धर्मोदयः पादाधिष्ठानं वज्रपदं नादः ।
पंचक्रमं वयित्वा तंत्रिणः पटो विमलः ॥ १ ध्रु वपद ॥

अहमेव तंत्री स्वयमेव तानं ।
वितानं (च) स्वयमज्ञातलक्षणं ॥

सार्धत्रिहस्तं गृहे वेममुक्तं त्रिवृतं ।
गगनं पूर्णं स हि तन्त्रवयनं ॥ २ ध्रु० ॥

अनाहतो वेमवरशब्दो हि गुरूपदेशेनाविरहितं ।
द्वे स्थिती छित्त्वा सूत्राणि व्यावृत्य दृढं प्रसारितानि ॥३ ध्रु०॥

मणिं गतः शुन्यतया लक्षणशून्यतासारं ।
वयन(जाल) रसस्तंत्री मोहजालमुक्तः ॥ ४ ध्रु० ॥

: २६ :

[राग शाबरी शान्तिपादानाम्]

तुला धुणि धुणि आँसुरे आँसु।
आँसु धुणि धुणि णिरवर सेसु ॥ १ ध्रुवपद ॥

तउ से हेरुअ ण पाविअइ।
सान्ति भणइ किण स भाविअइ ॥

तूला धुणि धुणि सुणे अहारिउ।
पुण लइआ अपणा चटारिउ ॥ २ ध्रु० ॥

बहल बढ दुइ मार न दिशअ।
शान्ति भणइ बालाग न पइसअ ॥ ३ ध्रु० ॥

काज न कार ण ज एहु जुगति।
सअसँवेअण बोलथि सान्ति ॥ ४ ध्रु० ॥

: २७ :

[राग कामोद भुसुकुपादानाम्]

अधराति भर कमल विकसिउ ।
बतिस जोइनी तसु अङ्ग उल्लसिउ ॥ १ ध्रुवपद ॥

चालिअउ ससहर मागे अवधूइ ।
रअण (पभाव) हु सहजे कहेइ ॥

चालिअउ ससहर गउ णिवाणे ।
कमलिनि कमल वहइ पणालेँ ॥ २ ध्रु० ॥

विरमानन्द विलक्षण सुध ।
जो एथु बुझइ सो एथु बुध ॥ ३ ध्रु० ॥

भुसुकु भणइ मइ बुझिअ मेले ।
सहजानन्द महासुख लीलेँ ॥ ४ ध्रु० ॥

: २८ :

[राग वलाड्डि शबरपादानाम्]

उँचा उँचा पावत तहि वसइ सबरी बाली।
मोरङ्गि पीच्छ परहिण सबरी गिवत गुञ्जरी माली ॥१ध्रुवपद॥

उमत सबरो पागल सबरो मा कर गुली गुहाडा तोहोरि।
णिअ घरिणी नामे सहज सुन्दरी ॥

नाना तरुवर मौलिल रे गअणत लागेली डालो।
एकेली सबरी ए वण हिण्डइ कर्णकुण्डलवज्रधारी ॥ २ ध्रु० ॥

तिअ धाउ खाट पड़िला सबरो महासुखे सेजि छाइली।
सबरो भुजङ्ग नैरामणि दारी पेम्ह राति पोहाइली ॥ ३ ध्रु० ॥

हिअ ताँबोला महासुहे कापुर खाइ।
सुन नैरामणि कण्ठे लइआ महासुहे राति पोहाइ ॥ ४ ध्रु० ॥

गुरुवाक् पुञ्छिआ बिन्ध निअमण बाणे।
एके शरसन्धाने बिन्धह बिन्धह परमणिवाणे ॥ ५ ध्रु० ॥

उमत सबरो गरुआ रोषे।
गिरिवर सिहर सन्धि पइसन्ते सबरो लोड़िब कइसे ॥ ६ ध्रु० ॥

: २९ :

[राग पटमञ्जरी लुइपादानाम्]

भाव न होइ अभाव न जाइ।
अइस संबोहे को पतिआइ ॥ १ ध्रुवपद ॥

लुइ भणइ बढ़ दुलक्ख विणाणा।
तिअ धाए विलसइ उह लागे णा ॥

जाहेर बाण चिह्न रुव ण जाणी।
सो कइसे आगम वेएँ वखाणी ॥ २ ध्रु० ॥

काहेरे किस भणि अइ दिवि पिरिच्छा।
उदक चान्द जिम साच न मिच्छा ॥ ३ ध्रु० ॥

लुइ भणइ (मइ) भावइ किस।
जा लइ अच्छम ताहेर उह ण दिस ॥ ४ ध्रु० ॥

: ३० :

[राग मल्लारी भुसुकुपादानां]

करुणा मेह निरन्तर फरिआ।
भावाभाव द्वन्दल दलिआ ॥ १ ध्रुवपद ॥

उइत्ता गअण माझेँ अदभूआ।
पेखरे भुसुकु सहजसरुआ ॥

जासु सुनन्ते तुट्टइ इन्दिआल।
निहुए णिअ मन देअ उलाल ॥ २ ध्रु० ॥

विसअ विशुद्धेँ मइ बुज्झिअ आनन्दे।
गअणह जिम उजोलि चान्दे ॥ ३ ध्रु० ॥

ए तिलोए एत वि सारा।
जोइ भुसुकु फेड़इ अन्धकारा ॥ ४ ध्रु० ॥

: ३१ :

[राग पटमञ्जरी आर्यपादानाम्]

जहि मण इन्दिअ पवण होइ णठा।
ण जानमि अपा कहिँ गइ पइठा ॥१ ध्रुवपद॥

अकट करुण डमरुलि बाजअ।
आजदेव निरासे राजअ ॥

चान्दरे चान्दकान्ति जिम पडिभासअ।
चिअ विकरणे तहि टलि पइसअ ॥ २ ध्रु० ॥

छाड़िअ भय घिण लोआचार।
चाहन्ते चाहन्ते सुण विआर ॥ ३ ध्रु० ॥

आजदेवेँ सअल विआरिउ।
भय घिण दूर णिवारिउ ॥ ४ ध्रु० ॥

: ३२ :

[राग देशाख सरहपादानाम्]

नाद न विन्दु न रवि शशि मंडल।
चिअराअ सहावे मुकल ॥१ ध्रुवपद॥

उजुरे उजु छाड़ि मा लेहुरे वाङ्क।
निअडि बोहि मा जाहुरे लाङ्क॥

हाथेर काङ्कण मा लेउ दापण।
अपणे अपा बुझतु निअ मण॥ २ ध्रु०॥

पार उआरेँ सोइ मजिइ।
दुज्जनसङ्गे अवसरि जाइ॥ ३ ध्रु०॥

बाम दाहिण जो खाल विखला।
सरह भणइ बापा उजुबाट भइला॥ ४ ध्रु०॥

: ३३ :

[राग पटमञ्जरी ढेण्ढणपादानाम्]

टालत मोर घर नाहि पड़वेशी ।
हाड़ीत भात नाहि निति आवेशी ॥१ ध्रुवपद ॥

वेङ्गस साप बड्हिल जाअ ।
दुहिल दुधु कि वेण्टे समाअ ॥

वलद विआअल गविआ बाँझे ।
पिटा दुहिअइ ए तिणा साँझे ॥ २ ध्रु० ॥

जो सो बुधी सोध निबुधी ।
जो सो चोर सोइ साधी ॥ ३ ध्रु० ॥

निति निति सिआला सिहे सम जुझअ ।
ढेण्ढणपाएर गीत विरले बुझअ ॥ ४ ध्रु० ॥

: ३४ :

[राग बराड़ी दारिकपादानाम्]

सुन करुण रे अभिनचारेँ काअवाक्चिएँ ।
विलसइ दारिक गअणत पारिमकुलेँ ॥१ ध्रुवपद॥

अलक्ख - लक्ख चिआ महासुहेँ ।
विलसइ दारिक गअणत पारिमकुलेँ ॥

किन्तो मन्ते किन्तो तन्ते किन्तो रे झाण वखाणे ।
अपइठान महासुहलीलेँ दुलक्ख परमनिवाणे ॥ २ ध्रु० ॥

दुःखेँ सुखे एकु करिआ भुञ्जइ इन्दी जाणी ।
स्वपरापर न चेवइ दारिक सअलानुत्तर माणी ॥ ३ ध्रु० ॥

राआ राआ राआ रे अवर राअ मोहे रे बाधा ।
लुइपाअपए दारिक द्वादश भुअणे लाधा ॥ ४ ध्रु० ॥

: ३५ :

[राग मल्लारी भादेपादानाम्]

एतकाल हँउ अच्छिल स्वमोहेँ ।
एवेँ मइ बुझिल सद्गुरुबोहेँ ॥१ ध्रुवपद॥

एवे चिअराअ मोकु णठा ।
गअणसमुदे टलिआ पइठा ॥

पेखमि दहदिह सर्व्वइ शून ।
चिअ विहुन्ने पाप न पुन्न ॥ २ ध्रु० ॥

बाजुले दिल मो लक्खु मणिआ ।
मइ अहारिल गअणत पणिआ ॥ ३ ध्रु० ॥

भादे भणइ अभागे लइला ।
चिअराअ मइ अहार कएला ॥ ४ ध्रु० ॥

: ३६ :

[राग पटमञ्जरी कृष्णाचार्यपादानाम्]

सुन बाह तथता पहारी।
मोहभण्डार लइ सअला अहारी ॥१ ध्रुवपद॥

घुमइ ण चेवइ सपरविभागा।
सहज निदालू काह्निला लाङ्गा ॥

चेअन न वेअन भर निद गेला।
सअल मुकल करि सुहे सुतेला ॥ २ ध्रु० ॥

स्वपणे मइ देखिल तिहुवण सुण।
घोरिअ अवणागमण विहुण ॥ ३ ध्रु० ॥

शाखि करिब जालन्धरि पाए।
पाखि न चाहइ मोरि पाण्डिआचाए ॥ ४ ध्रु० ॥

: ३७ :

[राग कामोद ताडकपादानाम्]

अपणे नाहिँ सो काहेरि शङ्का।
ता महा मुदेरी टुटि गेलि कङ्का ॥१ ध्रुवपद ॥

अनुभव सहज मा भोल रे जोइ।
चौकोट्टिविमुका जइसो तइसो होइ ॥

जइसने इछिलेसि तइसन आछ।
सहज पथक जोइ भान्ति नाहि वास ॥ २ ध्रु० ॥

बाण्ड कुरुण्ड सन्तारे जाणी।
वाक्पथातीत काँहि वखाणी ॥ ३ ध्रु० ॥

भणइ ताडक एथु नाहि अवकास।
जो बुझइ ता गले गलपास ॥ ४ ध्रु० ॥

: ३८ :

[राग भैरवी सरहपादानाम्]

काअ णावड़ि खाण्टि मण केड़आल।
सदगुरु वअणे धर पतवाल ॥१ ध्रुवपद॥

चीअ थिर करि धरहु रे नाइ।
आन उपाये पार ण जाइ ॥

नौवाही नौका टाणअ गुणे।
मेलि मेलि सहजे जाउ ण आणेँ ॥ २ ध्रु० ॥

वाटत भअ खाण्ट वि वलआ।
भव उलोलेँ सब वि बोलिआ ॥ ३ ध्रु० ॥

कूल लइ खरे सोन्तेँ उजाअ।
सरह भणइ गअणेँ समाअ ॥ ४ ध्रु० ॥

: ३९ :

[राग मालशी सरहपादानाम्]

सुइणेँ (ह त्थ) अ बिदारअ रे निअ मन तोहोरेँ दोसे।
गुरुवअण विहारे रे थाकिब तइ घुण्ड कइसे ॥१ ध्रुवपद॥

अकट हूँ-भव-गअणा।
वङ्गे आया निलेसि प (ा) रे भागेल तोहोर विणाणा ॥

अदभुअ भवमोह रे दिसइ पर अप्पणा।
ए जग जलबिम्ब (ा) कारे सहजे सुख अपणा ॥ २ ध्रु० ॥

अमिआ अच्छन्तेँ विस गिलेसि रे चिअ परवस अपा।
घरेँ-परेँ का बुझिअले मारि खाइब मइ दुठ कुण्डवाँ ॥ ३ ध्रु० ॥

सरह भणन्ति वर सुण गोहाली कि मो दुठ बलन्दे।
एकेले जग नाशिअ रे विहरहु सुच्छन्दे ॥ ४ ध्रु० ॥

: ४० :

[राग मालसी गवुड़ा काह्नपादानाम्]

जो मणगोअर आला-जाला।
आगमपोथी इष्टा - माला ॥ १ ध्रुवपद ॥

भण कइसेँ सहज बोलवा जाअ।
काअ वाक् चिअ जसु ण समाअ ॥

आले गुरु उएसइ सीस।
वाक्पथातीत काहिब कीस ॥ २ ध्रु० ॥

जेत इ बोली तेत वि टाल।
गुरु बोब से सीसा काल ॥ ३ ध्रु० ॥

भणइ काह्न जिण रअण वि कइसा।
काले बोब संबोहिअ जइसा ॥ ४ ध्रु० ॥

: ४१ :

[राग कह्न गुञ्जरी भुसुकुपादानाम्]

आइए अणुअना ए जगरे भान्तिए सो पड़िहाइ।
राजसाप देखि जो चमकिइ साचे किँ तँ बोड़ो खाइ ॥१ ध्रुवपद॥

अकट जोइआ रे मा कर हाथ लोह्ना।
आइस सभावेँ जइ जग बुझसि तुटइ वासना तोरा ॥

मरुमरीचि गन्ध (ब) नअरी दापनपड़िबिम्बु जइसा।
बातावत्तेँ सो दिढ़ भइआ अपेँ पाथर जइसा ॥ २ ध्रु० ॥

बान्धि सुआ जिम केलि करइ खेलइ बहुबिह खेला।
बालुआ तेलेँ ससरसिंगे आकाश ( ) फूलिला ॥ ३ ध्रु० ॥

राउतु भणइ कट भुसुकु भणइ कट सअला अइस सहाव।
जइ तो मूढा अच्छसि भान्ती पुच्छतु सद्गुरु पाव ॥ ४ ध्रु० ॥

: ४२ :

[राग कामोद काह्नपादानाम्]

चिअ सहजे शून संपुन्ना ।
कान्धवियोएँ मा होहि विसन्ना ॥ १ ध्रुवपद ॥

भण कइसे काह्न नाहि ।
फरइ अनुदिनँ तेलोए पमाइ ॥

मूढा दिठ नाठ देखि काअर ।
भाङ्ग तरङ्ग कि सोषइ साअर ॥ २ ध्रु० ॥

मूढा अच्छन्ते लोअ न पेखइ ।
दुध माझे लड़ ण च्छन्ते देखइ ॥ ३ ध्रु० ॥

भव जाइ ण आवइ ण एथु कोइ ।
अइस भावे विलसइ काह्निल जोइ ॥ ४ ध्रु० ॥

: ४३ :

[राग बंगाल भुसुकुपादानाम्]

सहज महातरु फरिअ ए तेलोए।
खसमसभावे रे वाणत मुका कोए ॥१ ध्रुवपद॥

.....।
..... ॥

जिम जले पाणिआ टलिआ भेउ न जाअ।
तिम मण-रअण समरसे गअण समाअ ॥ २ ध्रु० ॥

जासु नाहि अप्पा तासु परेला काहि।
आइ अणुअणा रे जाम मरण भव नाहि ॥ ३ ध्रु० ॥

भुसुकु भणइ कट राउतु भणइ कट सअला एह सहाव।
जाइ न आवइ रे ण तहिं भावाभाव ॥ ४ ध्रु० ॥

: ४४ :

[राग मल्लारी कङ्कणपादानाम्]

सुने सुन मिलिआ जबेँ ।
सअल धाम उइआ तबेँ ॥ १ ध्रुवपद ॥

आच्छहुँ चउखन संबोही ।
माझ निरोहेँ अणुअर बोही ॥

बिन्दु णाद ण हिएँ पइठा ।
आण चाहन्ते आण विणठा ॥ २ ध्रु० ॥

जथा आइलेसि तथा जाण ।
माझे थाकी सअल विहाण ॥ ३ ध्रु० ॥

भणइ कङ्कण कलअल सादेँ ।
सर्व वि च्छस्लि तथता नादेँ ॥ ४ ध्रु० ॥

: ४५ :

[राग मल्लारी काह्नुपादानाम्]

मण तरु पाञ्च इन्दि तसु साहा।
आसा बहल पात फल वाहा ॥१ ध्रुवपद॥

वरगुरुवअणे कुठारेँ छिजअ।
काह्न भणइ तरु पुण न उइजअ॥

बाढ़इ सो तरु सुभासुभ पाणी।
छेवइ बिदुजन गुरुपरिमाणी॥ २ ध्रु०॥

जो तरु छेवइ भेउ न जाणइ।
सड़ि पड़िआँ रे मूढ़ ता भव माणइ॥ ३ ध्रु०॥

सुणतरु (वर) गअण कुठार।
छेवह सो तरु मूल न डार॥ ४ ध्रु०॥

: ४६ :

[राग शबरी जयनन्दीपादानाम्]

पेखु सुअणे अदशे जइसा।
अन्तराले सो हव तइसा ॥१ ध्रुवपद॥

मोह विमुक्का जइ मणा।
तबेँ टुटइ अवणा - गमणा ॥

णउ दाढ़इ णउ तिमइ न च्छिजइ।
पेख मोघ (माआ) मोहे बलि वलि बाझइ ॥ २ ध्रु० ॥

छाया माआ काअ समाणा।
बेणि पाखेँ सोइ वि णाणा ॥ ३ ध्रु० ॥

चिअ तथतास्वभावे पोहिअ।
भणइ जअनन्दि फुड़ अ (ा) ण ण होइ ॥ ४ ध्रु० ॥

: ४७ :

[राग गुर्जरी धामपादानाम्]

कमलकुलिश माझेँ भवइ लेली।
समताजोएँ जलिल चण्डाली ॥१ ध्रुवपद॥

डाह डोम्बी घरे लागेलि आगि (णी)।
ससहर लइ सिञ्चहुँ पाणी ॥

नउ खर जाला धूम न दिसइ।
मेरु शिखर लइ गअण पइसइ ॥ २ ध्रु० ॥

दाढ़इ हरिहर बाह्म भडारा।
दाढ़इ णवगुण शासनपाड़ा ॥ ३ ध्रु० ॥

भणइ धाम फुड़ लेहु रे जाणी।
पञ्च नालेँ उठे गेल पाणी ॥ ४ ध्रु० ॥

: ४८ :

[रागः पटहः कुक्कुरीपादानाम्]

कुलिशाब्जयुद्धं प्रविष्टाः ।
समतायोगस्य सैनिकसमूहाः ॥ १ ध्रुवपद ॥

विषयेन्द्रियग्रामानहन् ।
शून्यताराजो महासुखनामा ॥

तूर्यशब्दः शंखध्वनिर् अप्रतिहतनादं नदति ।
मोहभवबलानि दूरातीतानि ॥ २ ध्रु० ॥

सुखपुरं शिखरे संस्थाप्य सर्वम् आकृष्टं (संगृहीतं वा) ।
अंगुलिम् ऊर्ध्वं क्षिप्त्वा कुक्कुरीपादो वदति ॥ ३ ध्रु० ॥

अयं त्रैलोक्ये महासुखेन जयति ।
तत्त्वस्यार्थं शब्दान्तरेण कुक्कुरीपादेन कथितं ॥ ४ ध्रु० ॥

: ४९ :

[राग मल्लारी भुसुकुपादानाम्]

राज नाव पाड़ी पँउआ-खालेँ बाहिउ।
अदअ-बङ्गाले देश लुड़िउ ॥१ ध्रुवपद।

आजि भुसु (कु) वङ्गाली भइली।
णिअ घरिणी चण्डाली लेली ॥

डहिअ पञ्चपाटण इंदिविसआ णठा।
ण जाणमि चिअ मोर कहिँ गइ पइठा ॥ २ ध्रु० ॥

सोण त रुअ मोर किम्पि ण थाकिउ।
णिअ परिवारे महासुहे थाकिउ ॥ ३ ध्रु० ॥

चउकोडि भण्डार मोर लइआ सेस।
जीवन्ते मइले नाहि विशेष ॥ ४ ध्रु० ॥

: ५० :

[राग रामकी शबरपादानाम्]

गअणत गअणत तइला बाड़ी हेञ्चे [= हेच्चं] कुराड़ा ।
कण्ठे नैरामणि बालि जागन्ते उपाड़ी ॥१ध्रुवपद॥

छाड़ु छाड़ु माआ मोहा विषम दुन्दोली ।
महासुहे विलसन्ति शबरो लइआ सुणमेहेली ॥

हेरि से मेरि तइला बाड़ी खसमे समतूला ।
सुकड़ ए से रे कपासु फुटिला ॥ २ ध्रु० ॥

तइला बाड़िर पासेँर जोहा बाड़ी उएला ।
फिटेलि अन्धारि रे आकाश फुलिआ ॥ ३ ध्रु० ॥

कङ्गूरि पाकेला रे शबराशबरी मातेला ।
अणुदिन शबरो किम्पि न चेवइ महासुहेँ ॥ ४ ध्रु० ॥

चारिवासेँ भाइला रे दिआ चञ्चाली ।
तहिँ तोलि शबरो डाह कएला कान्दइ सगुण शिआली ॥५ध्रु०॥

मारिल भवमत्ता रे दहदिहे दिधलि बली ।
हेर से सबर निरेवण भइला फिटिलि सबराली ॥ ६ ध्रु० ॥

नामानुक्रमणी

अनागरिक गोविंद लामा ८९
अवघट ४९
अवधूतीपा २५
आजदेव (आर्यदेव) १९, ४९

इंद्रभूति ३८
इलिएड मिर्सिया ८९

कङ्कपा, कङ्कणपा, १९, ५२, ५३
कंबल, कंबलांबरपा ४०, ५३
कबीर ५०, ९७, ९९, १०६
काकती १०४
काँजे एडवर्ड ५५
काणेरी ४९
कान्ह कान्हपा, कण्हपा, काण्हपा, कानपा, कानूपा, कान्हपाद, कृष्णाचार्य १२, १७, १९, २०, ३२, ३६, ३७, ३८, ३९, ४३, ४५, ५१, ५४, ५८, ६६, ७१, ७३, ७८, ८२, ९१, ९७, १०३, १०८
कामरिपा ४०, ४१
कामीलपा १९, ७८

कालपा २५
कीर्त्तिचंद्र २८

गुड्डुरी २०
गुण्डरीपा १९, ३३, ९७
गोरक्षनाथ, गोरक्षपा ४९, ५०, १०६

चतुर्वेदी परशुराम ११६
चंद्रकीर्त्ति २८
चर्पटी, चर्पटपा ३१
चाटिलपा १९, २१, २२, ३४, ६१
चाटुर्ज्या सुनीति कुमार १३, १४, १६, १००, १०१, १११, ११६
चिन्ता ४१
चेलूकपा २५

जड़भरत ४९
जयनन्दी, जयानंतपाद १९, ५३
जलंधर, जालंधरीपा ३७, ३८, ४९, ५१, ५४, ५५

ठाकुर ज्योतिरीश्वर २४

डेंगीपा ५०
डोंबीपा १९, ३३, ४०, ४१, ४४, ७८

ढेण्ढणपा, ढेण्ढणपाद १९, २१, २२, ५०, ९७, ९८, ९९

तंतिपा, तंधैपा, तांतिपा १९, ५४, ५५
ताड़क, ताड़कपा २१, ५१, ५२
तारानाथ लामा २९, ३१, ३२, ३५, ३८, ४०, ४१, ४६, ४६, ४७, ५०, ५१
तिलोपा ४५

त्रिपाठी कुंजबिहारी १०३

दयाल राधास्वामी १०६
दारिकपा १९, ३०, ५०, ५१, १०५
दासगुप्त शशिभूषण १६, १७
दिवाकरचंद ४६
द्विवेदी हजारी प्रसाद २२

धर्मपाद ३४
धर्मपाल (महाराज) २५, २७, ४५
धामपा १९, ३३, ३४, १०८

नागार्जुन ४७, ४९
नाड़क, नाड़कपाद १९
नानक १०६

पिंगला ५०

बनर्जी पो० के० १३
बरुआ के० एल० १०५

बागची प्रबोधचंद्र १०, १४, १५, १६, २६, ३०, ५२, ५४, ८८, ९८
बुद्धदेव ६४
बुद्धज्ञान २५

भट्टाचार्य विधुशेखर १३, ८८
भट्टाचार्य विनयतोष २९
भद्रचंद, भद्रपा, भद्रबोधि, भादे १९, ४३, ५१
भानु जगन्नाथ प्रसाद ११७
भारती धर्मवीर ५१
भीमनाथ ४९
भुसु, भुसुकु, भुसुकुपा, भुसुकुपाद १९, २०, ३४, ३५, ३६, ४३, ५८, ६०, ६६, ७९, ८०, ८१, ८२, ९३, १०३

मंजुवज्र ३५
मंजुश्री ३६
मंत्स्यान्त्राद ३०
मजुमदार अतीन्द्र १०, १५, ७१, ११३
मजुमदार विजयचंद्र १३
मणिभद्रा ३१
मत्स्येन्द्रनाथ २६, ३०, ४९
मल्यार्जुन ४९
महांती आर्त्तवल्लभ १०३

महिआ, महिंडा महिपा १९, २०, ४३, ९१, ९२, ९३
महीधर १०५
मानसिंह मायाधर १०४
मिश्र उमेश १०५
मीननाथ १०५
मुनिदत्त २८
मैक्समूलर ८९

रत्नाकर शांति ३५, ४१
रामानंद १०६
राहुल भद्र ४५

लाड़ी डोंबी १६
लुई, लुईपा १७, १८, २५, २६, २७, २९, ३०, ४५, ४७, ५०, ५१, ५९, १०३

वज्रघण्टापा ४०, ५०
वसु मणीन्द्रमोहन १०, १४, १५, ११३
वाक्पति ४८
विनयश्री १७
विरुआ, विरुपा १८, ३२, ४१, ४३, ४५, ७५
विश्वामित्र ऋषि ४८
वीणापा, वीणापाद १९, २०, ४१, ४३,
वुर्नोफ़ ८९

वैरागी, वैरागीनाथ, वैराग्यनाथ ४९, ५०

शबर, शबरपा, शबरीपा १८, २५, २७, ३०, ४५, ४६, ४७, ७२, ७४, ९५, १०३, १०८
शबरनाथ ४९
शहीदुल्ला १३, १६
शांतरक्षित भिक्षु २५
शांतिदेव ९, ३५
शांतिपा १८, ३५, ४१, ४२, ४३, ७६
शांति भिक्षु १०
शास्त्री हरप्रसाद १२, १३, १४, १५, १८, २९, ३३, ३४, ३६, ५०, ५४, ८५, ८८, १००, ११३, ११५
शुजुकी प्रो० ३९
शुभ सामंत ३०

संघरक्षित भिक्षु ९
सत्यनाथ ४९
सरहपा १७, १९, २५, २७, ४४, ४५, ४६ ४७, ५८, ७९, १०८, १०९, ११८
सरोज वज्र ४५
सांकृत्यायन राहुल १२, १४, १५, १७, २१, २२, २५, २६, २७, २९, ३१, ३२, ३३, ३६, ३९, ४१, ४२, ४४, ४५, ५२, ५३, १०५, १०६, १०७, १०८, १९१

सुमयि १७
सेन सुकुमार १०, ११, १४, १५, १६, १७, २६, २८, ३१, ३२, ३३, ३४, ३७, ४२, ४३, ४६, ५०, ५२, ५४, ५७, १०१
स्नेलग्रोव डी० एल० ८९

हरिभद्र २५, ४५
हरिश्चंद्र ४९
हालिपाद ३४
हुएनसंग १११

ग्रंथानुक्रमणी

अभिसमय विभंग ३०
अर्ली हिस्ट्री आफ कामरूप १०५
इंडियन लिंग्विस्टिक्स १०, ११
ए सर्वे आफ बुद्धिज्म ९
ऐतरेय ब्राह्मण ४८
ओरिजिन ऐंड डेवलेपमेंट आफ दि बेंगाली लैंग्वेज १३, १००, १०८, १११, ११६
ओल्ड बेंगाली टेक्स्ट्स ४२, ११३, ११४
कबीर ग्रंथावली ५०, ९९
काणेरी गीतिका ५०
कौलज्ञान निर्णय २६
खुद्दक निकाय ९
गङ्गा पुरातत्त्वाङ्क १०५
गुह्य समाजतंत्र ९
गौड़वहो ४८
चर्यागीति कोश (ष) १०, १५, ११४

चर्यागीतिपदावली ११, १५, १७, २६, २८, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३७, ४३, ४६, ५२, १०१, ११२
चर्यापद १०, १५
चर्यापदाज १७, ७१
चर्या परिचय १०, ११, १५, २७, ७१, १०१, १०२
चर्यापिटक ९
चर्याचर्य विनिश्चय ११५

छंदः प्रभाकर ११७

जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी १४

टिबेट हाउस म्युजियम ३६, ३८, ४०, ४१, ४४, ४८, ५३, ५५

डाकार्णव १२

तत्त्व स्वभाव दृष्टिनाम दोहाकोष गीतिका ३१

दोहाकोश (ष) १२, १५ १७, ३३, ३९, ४५, ४६, ११८

नाटयशास्त्र ११६

नाथ सम्प्रदाय २२

न्यू लाइट आन दि हिस्ट्री आफ असमिया लिट्रेचर१०५

पुरातत्त्व निबन्धावली २२, २६, २७, २९, ३१, ३२, ३४, ३८, ३९, ४१, ४२, ४३, ५१, ५२, ५३, १०६

फाउण्डेशन आफ टिबेटन मिस्टिसिज्म ८९

बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स थ्रू द एजेज ५५
बोधिचर्यावतार ९, ३५
बौद्धगान ओ दोहा १५, २९, ३६ ५०, ११५

भागवत ४८

महाभारत ४८
मिस्टिक टेल्स ३१, ३२, ३६, ३८, ४०, ४२, ४६, ४८, ५०, ५१
मीराँबाई की पदावली ११६
मेटीरियल्स फार ए क्रिटिकल एडिशन आफ दि ओल्ड बेंगाली चर्यापदाज१४, ५२

मैथिली भाषा और साहित्य १०५

योग इमार्टलिटी ऐंड फ्रीडम ८९, ९०

राष्ट्रभाषा रजत जयन्ती ग्रंथ ११२

लुईपाद गीतिका ३१
ले शान्त्स मिस्तिक्स १३

वर्ण रत्नाकर २४
विरुप गीतिका ३३
विश्वभारती क्वार्टर्ली १३, ३९

संगीत रत्नाकर २७
सद्धर्मपुण्डरीक ८९
स्टडीज इन तंत्र ८९
सिद्ध साहित्य ५१
सांख्यायन श्रौत सूत्र ४८
हजार बछरेर पुराना बांगला भाषाय बौद्धगान ओ दोहा १५
हिन्दी काव्यधारा १०७
हेवज्र तंत्र ८९
हेवज्र तंत्रः ए क्रिटिकल स्टडी ८९

18X12